प्रकाशक—
रतनलाल मादीपुरिया,
कटरा खुसाल, देहली

प्रिंटर—जीवंधर जैन
शारदा प्रेस
१२ नं० विश्वकोषलैन, बाघबाजार
कलकत्ता

आद्य वक्तव्य ।

यह दान-विचार नामका ग्रन्थ अनेक आर्ष ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है। इसमें जिन जिन विषयोंका उल्लेख किया है उन विषयोंके प्रमाणमें श्लोकों (गाथा) का अर्थ और वाच्यता जिनागमके अनुकूल और आम्नायको लक्ष्य रख कर की है। जिनागमके विरुद्ध अपनी मनोनीत कल्पनासे श्लोकोंका अर्थ व अभिप्राय नहीं लिखा है तथापि प्रमाद और अज्ञानभावसे जिनागमकी विरुद्धता हो गई हो वह श्री जिनवाङ्मय देवता क्षमा करें और भावोंमें सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करें।

इस ग्रन्थका सम्बन्ध पूज्यपाद आचार्य शांतिसागर महाराजके संघसे कुछ भी नहीं है। आगमकी विरुद्धता व अविरुद्धताकी जुम्मेदारी लेखकपर ही निर्भर है।

देहली कार्तिक सुदी १. सं० २४५८

—क्षुल्लक ज्ञानसागर

श्री आचार्य शांतिसागर महाराजके मुनिसंघका चातुर्मास इस वर्ष भारतवर्षकी राजधानी देहलीमें हुआ था। देहलीमें मुनिसंघका चातुर्मास करानेका प्रयत्न देहलीके लाला रतनलाल-जी मादीपुरिया कटरा खुसाल तथा समस्त दिगम्बर जैन पंचान देहलीने किया था।

इस पुण्यजनक मुनिसंघके चातुर्मासके स्मरणमें लाला रतनलालजी मादीपुरिया कटरा खुशाल देहलीवालोंने देवशास्त्र गुरुकी भक्तिसे प्रेरित होकर इस ग्रन्थको ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ प्रकाशित कर दान किया है।

भूमिका

स गेही सोपि सद्दृष्टिः मोक्षमार्गी स पुण्यवान् ।
रत्नत्रयधारको ज्ञानी पूजा दानं करोति यः ॥

जिनागममें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रको धर्म बतलाया है। यह धर्म निश्चय और व्यवहारभेदसे दो प्रकार है। निश्चयधर्मकी व्यक्तता व्यवहार (लौकिक) धर्मसे ही होती है इसलिये सम्यक्‌चारित्रको "चारित्तं खलु धम्मो" मुख्य धर्म माना है। जिसके सम्यक्‌चारित्ररूप समस्त धर्माचरणरूप कार्य नित्य प्रमादरहित होते रहते हैं वही सम्यग्दृष्टी है, धर्मात्मा है, रत्नत्रयाराधक है और मोक्षमार्गगामी है।

गृहस्थोंका सम्यक्‌चारित्र दान और पूजारूप धर्माचरणसे ही स्थिर रहता है, वृद्धिंगत होता है और पुण्यसे पल्लवित होता है। जो भव्य जीव दान और पूजाको अपना मुख्य धर्म समझ कर (दाणं पूजा मुक्खो सावय ण तेण विणा) निरंतर दान और पूजा करनेमें अपना जीवन पवित्र व्यतीत करता है वही सच्चा श्रावक है। दानपूजासे रहित श्रावकके कुलमें जन्म लेनेवाले जैनीको श्रावक नहीं कहते हैं इसलिये दान और पूजा ये दोनों श्रावकके मुख्य धर्म माने हैं। जो श्रावक दान पूजाको अपना आवश्यक कर्म समझ कर दानं पूजामें

तत्पर रहता है उसके ही सम्यग्दर्शन होता है। दान पूजा करनेवाले सम्यग्दृष्टी श्रावकके साथ सम्यग्दर्शनके वात्सल्य, स्थितिकरण और उपगूहन अंगोंकी पालना की जाती है और श्रावकके धार्मिक आच-रणोंका व्यक्तीकरण पूजा और दानादिक क्रियाओंके द्वारा ही साधर्मी भाइयोंको किया जाता है।

संसारमें दुर्लभ मनुष्यपर्याय, उच्चजाति (सज्जाति), नीरोग शरीर, धन धान्य पुत्र मित्र कलित्र आदि विभूतिका समागम तथा जिनधर्मकी प्राप्ति अतिशय कठिन है। समस्त प्रकारके उत्तम साधन मिलनेपर भी जिसके भाव दान करनेके नहीं हुए तो समझना चाहिये कि वह द्रव्य-श्रावक है, भाव-श्रावक नहीं है। पंचपरावर्तन संसारमें अनंतानंत योनियोंमें भ्रमण करनेवाले जीवोंको श्रेष्ठ निमित्तोंका मिलना ही अत्यन्त दुस्साध्य है। श्रेष्ठ निमित्तोंके प्राप्त होनेपर जीवोंका उद्धार अवश्यमेव होता ही है। संसारसे तरण होनेका उपाय ही श्रेष्ठ निमित्तोंका मिलना है। श्रेष्ठ निमित्तोंके मिलनेपर भावोंकी विशुद्धि, चारित्रकी प्राप्ति, पुण्यकार्य, व्रत जप शील संयम और मोक्षमार्गका ज्ञान होता है। कहा है कि "श्रेष्ठं निमित्तमासाद्य जीवो भवाद्विमुच्यते" अच्छे निमित्तोंको प्राप्त कर जीव संसारसे छूट जाता है, परमात्मा हो जाता है। इसीलिये बतलाया है कि—

निमित्तेन विना क्वापि न स्याद्धर्मस्य साधनः।
सुनिमित्तस्य संयोगे भावशुद्धिः प्रजायते ॥
ततः प्रतिष्ठापूजादि तीर्थयात्रामहोत्सवे।
स्नपने तर्पणे श्राद्धे समदत्तिसमन्विते ॥

पुत्रजन्मविवाहादौ व्रतादिशुभकर्मणि ।
जिनचैत्यादिनिर्माणे गुरूणां समुपासने ॥
शुभकार्यसमारंभे वरबंधुसमागमे ।
धार्मिकाणां हि वात्सल्ये दानं कुर्यादिने दिने ॥

भावार्थ—निमित्तके बिना कभी किसीको भी धर्मकी साधना नहीं होती है क्योंकि अच्छे निमित्त मिलनेपर ही भावोंकी विशुद्धि होती है। इसलिये प्रतिष्ठा, पूजा, तीर्थयात्रा, रथोत्सव, स्नपन, तर्पण, श्राद्ध (जो श्रद्धापूर्वक साधर्मी भाइयोंको समदत्तिमें किया जाता है) पुत्र-जन्म, विवाह, व्रतादिक शुभकर्म, जिनमन्दिरका निर्माण, जिनबिम्ब-निर्माण, गुरूकी उपासना, व्यापारादिक शुभकार्यका प्रारम्भ, प्यारे भाई बन्धुओंका समागम और साधर्मी भाई (सजातीय भाई तथा धर्मबंधु) का वात्सल्यभाव आदि अनेक शुभनिमित्त मिलनेपर प्रति दिन दान करना चाहिये जिससे धर्मकी वृद्धि, पुण्यकी प्राप्ति और आत्मकल्याण-की प्राप्ति हो।

उत्तम निमित्त मिलनेपर जो दान पूजादि उत्तम आचरण नहीं करता है उसको आचार्योंने पशुके समान माना है।

यो न दत्ते सुपात्रेभ्यः प्रासुकं दानमंजसा ।
न तस्यात्मभरे कोपि विशेषो विद्यते पशोः ॥

भावार्थ—जो शुभनिमित्तको प्राप्त कर सुपात्रोंको दान नहीं देता है वह पेट भरनेवाला पशुके समान ही है। इसलिये श्रावकका कर्तव्य है कि—

दत्ते दूरेपि यो गत्वा विमृश्य व्रतशालिनः।
सः स्वयं गृहमायाते कथं दत्ते च योगिने॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी गृहस्थोंकी सदैव भावना यह होती है कि व्रती-सुपात्रकी खोज (गवेषणा) अपने ग्रामसे दूर देशांतर जाकर करे और वहांपर दान देवे। यदि भाग्यसे गृहमें सुपात्र आ जाय तो फिर उनकी भावना सर्व भावोंसे वृद्धिगत हो जाती है तो वे सुपात्रके लिये दान क्यों न करें। सच बात तो यह है कि दान देनेवाले श्रावकका जन्म सफल है।

तस्यैव सफलं जन्म तस्यैव सफला क्रिया।
सफलं गृहधान्यादि येन दानं कृतं शुभम्॥

भावार्थ—जिसने सुपात्रके लिये दान दिया है उसीका जन्म सफल है उसकी समस्त क्रियायें सफल हैं और उसकी गृह धन धान्यादिक विभूतिका प्राप्त करना सफल है

समस्त दानोंमें आहारदान ही श्रेष्ठ है।

समस्त दानोंमें आहारदान ही मुख्य है। आचार्योंने बतलाया है कि—

शमस्तपो दया धर्मः संयमो नियमो दमः।
सर्वे तेन वितीर्यन्ते येनाहारो वितीर्यते॥

भावार्थ—जिसने सुपात्रोंकेलिये दान दिया है उसने शमता, तप, दया, धर्म, संयम, नियम और इन्द्रियोंका निग्रहरूप मुनिधर्मके पवित्राचरणोंकी प्रवृत्ति कराई। इतना ही नहीं किंतु आचार्योंने कहा है कि "दत्ते आहारदानं यो मोक्षमार्गं ददाति सः" जो आहारदान देता है

या भव्यजीव पात्रको मोक्षमार्ग प्राप्त करा देता है इससे अधिक आहारदानका माहात्म्य और क्या हो सकता है। तीर्थंकर परमदेव कठिन तपश्चरण कर धर्मतीर्थ स्थापन करते हैं परन्तु आहारदान देने-वाला एक आहारदानके प्रभावसे ही दानतीर्थ स्थापन करता है। यह अद्भुत आश्चर्य आहारदान देनेमें ही है और प्रत्यक्षमें यश प्राप्ति कीर्ति पंचाश्चर्यवृष्टि और सुयश प्रकट होता है। इसलिये भव्यजीवोंको दान देकर आत्मकल्याण करना चाहिये।

—क्षुल्लक ज्ञानसागर.

विषय-सूची

* श्रीशांतिसागराय नमः *

दान-विचार

तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले महान पुण्यशाली और अवतारी पुरुष होते हैं। तीर्थसे अनंत जीव तिरकर संसारसमुद्रसे पार होते हैं। जन्म मरण रहित अक्षय और अनंतसुखके भागी होते हैं। इसीलिये ही तीर्थके प्रवर्तक त्रिलोकके परमेश्वर अनंतानंत शक्तिके धारण करनेवाले मंगललोकोत्तम शरणभूत और परमेष्ठीपदको प्राप्त ऐसे सर्वज्ञ देव अरहंत प्रभु ही होते हैं।

अनंत शक्तिके धारक इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र असुरेन्द्र और विद्याधरभी तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालेकी निरंतर सेवा करते हैं। द्वादशांगके पारगामी मुनिगणभी भक्तिभावसे तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालेकी उपासना और ध्यान करते हैं। गणधरदेव भी नमस्कार कर पूजा करते हैं।

तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालोंका यह अद्भुत माहात्म्य केवल एक अभयदानके कारणसे ही होता है। तीर्थङ्कर प्रभु त्रिलोकके जीवोंको अभयदान देते हैं। त्रिलोकके जीवोंको जन्ममरणसे रहित ऐसा

परमोत्कृष्ट अभयदान एक तीर्थंकरदेव ही दे सकते हैं अन्य जीवोंमें ऐसी असाधारण शक्ति नहीं है। इसीलिये अभयदानके अधिकारी तीर्थंकरदेव ही माने हैं।

जिसप्रकार अभयदानके प्रवर्त्तक तीर्थंकर देव होते हैं इसी-प्रकार अभयदानके पात्रभी महान पुण्यशाली परमपूज्य गणधर देव और तत्काल निर्वाणार्ह मुनिगण या आसन्नभव्य ही होते हैं। अन्य साधारण जीव अभयदानके पात्रही नहीं हैं।

अभयदानको ग्रहण करनेकी शक्ति आसन्न-भव्यको ही होती है। वे ही उस दानके प्रभावसे जन्म मरणसे निवृत्त होकर अक्षय अनंत-सुखको प्राप्त होते हैं।

दानके प्रदाता तीर्थंकर प्रभु और दानके पात्र गणधरादि देव हैं इसीलिये दानको साक्षात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बतलाया है। इतना ही नहीं किंतु कितने ही आचार्योंने इस दानको आत्मधर्म बतलाया है।

सच तो बात यह है कि जिसप्रकार धर्मतीर्थ संसारसमुद्रसे अनंत प्राणियोंको पार उतारकर निर्वाण-पदको प्राप्त करा देता है, पर-मात्म पदको प्राप्त करा देता है उसीप्रकार दानतीर्थ भी जीवोंको परमात्मपद शीघ्र ही प्राप्त करा देता है। इसीलिये दानका माहा-त्म्य लोकोत्तर है, अवर्णनीय है और पंचाश्चर्यका करनेवाला है। जिस दानके प्रभावसे दाता और पात्र दोनों ही समस्त संसारके दुःखोंसे निवृत्त होकर साक्षात् परमात्मा हो जाते हैं, अजर अमर और अक्षय अनंतसुखके अधिकारी हो जाते हैं उस दानतीर्थकी महिमा किसप्रकार वर्णन की जा सकती है।

असलमें तो दानतीर्थकी महिमा वीतराग प्रभुने "अहोदानमहो-दानं" इसप्रकारसे साश्चर्यरूप ही वर्णन की है। इन्द्रादिक देवगण भी पंचाश्चर्य कर दानतीर्थकी महिमाको प्रकट करनेमें असमर्थ हो गये यह अद्भुत माहात्म्य दानतीर्थका किसको प्यारा नहीं होगा?

धर्मका फल प्रायः परोक्ष है परन्तु दानका फल कीर्ति सुयश और आत्मसुख प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है। दानके प्रदाता और दानके पात्र दोनोंको प्रत्यक्षमें लाभ होता है।

वास्तविक विचार किया जाय तो धर्म और दान ये दोनों दो नहीं हैं, एक ही हैं। दान धर्म है और धर्म दान है। इसीलिये त्याग (दान) को उत्तमक्षमादि दश धर्मोंमें वतलाया है।

"उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषध शास्त्र अभय आहारा।
निहचै रागद्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनों दान संभारे॥"

कविवर द्यानतरायजीने दशलाक्षणी पूजामें चार प्रकारके दानको ही त्याग धर्म वतलाया है।

दानका अर्थ त्याग करना ही आगममें वतलाया है। "उत्सर्जनं दानं" ऐसा अर्थ आगममें सर्वत्र माना गया है। इसप्रकार त्यागरूप दानके सर्वोत्कृष्ट दाता श्रीअरहंत भगवान हैं, क्योंकि समस्त जीवोंको अभयदान वे ही दे सक्ते हैं। उत्तम दाता क्षपकश्रेणी आरूढ़ मुनीश्वर हैं, क्योंकि रागद्वेषका सर्वथा त्याग वे करते हैं। अथवा मुनिगण भी चौवीस प्रकारके परिग्रहोंका परित्याग करते हैं इसलिये मुनीश्वर भी उत्तम दाता हैं।

इसप्रकार भावपूर्वक जितना रागद्वेपादि विकारभावोंका परि-

त्याग और पर-पदार्थोंसे ममत्वभावका परित्याग, जिन-व्रत, चारित्र; सामायिक, ध्यान और स्वसंवेदन होना वे सब त्यागधर्मके कारण होंगे। जिस समय कारणोंको कार्यमें उपचारकी कल्पना की जायगी उस समय समस्त व्रत, चारित्र, जप, तप आदि धर्म त्यागरूप (दान) ही कहे जांयगे। इसलिये जिनागममें त्यागधर्म सर्वोत्कृष्ट माना है और वह दान करनेसे ही होता है।

असलमें मोक्षकी प्राप्ति विना दानके नहीं होती है, यह सिद्धांत सर्वमान्य है। दान देनेवालेको ही सुगति होती है, पुण्यकी प्राप्ति होती है। संसारका नाश दान देनेवाले ही करते हैं और कर्मोंका सर्वथा नाश दान देनेवालेही करते हैं। इस दानधर्मको जिनागममें सर्वोत्कृष्ट धर्म माना है। इसीलिये ही दान और धर्ममें कुछभी भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। दान है सो धर्म है और धर्म है सो दान है। दानभी निवृत्तिरूप होता है और जिनधर्म भी निवृत्ति-रूप है ही। पाप क्रियाओंका परित्याग ही धर्म हैं। जिससे जितने अंशमें पाप-क्रिया था पापके विचारोंका परित्याग होता है उतने ही रूपमें आत्मधर्मकी प्राप्ति नियमसे होती है।

वह दान द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है—

द्रव्यदानका स्वरूप—अपने और दूसरोंके उपकारके लिये अपना द्रव्य मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिरूप कार्योंमें वितीर्ण करना सो दान है।

जिस दानसे दाताकी आत्माका कल्याण नहीं हो वह दान नहीं है और जिस दानसे पात्रकी आत्माका कल्याण नहीं हो वह भी

दान नहीं है। तथा जिस दानसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति नहीं होती हो तो वह भी दान नहीं कहलाता है।

इसीलिये दान मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके पात्रोंमें ही वितीर्ण किया जाता है। समदत्ति, अन्वयदत्ति, और पात्रदत्ति इत्यादि जितने प्रकार दानके भेद आगममें बतलाये हैं (जिनका स्पष्टीकरण संक्षेपमें आगे लिखेंगे) वे सब प्रकारके दान मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके अवलंबनरूप ही हैं।

दान देनेका मुख्य हेतु मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति है। जिस दानसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती हो तो वह सम्यक्-दान है अन्यथा वह कुदान है।

जिस दानसे दाताकी आत्माका कल्याण नहीं होता है ऐसा दान भी कुदान कहलाता है। दान देनेसे दाताकी आत्मामें आत्मगुणोंकी विशुद्धि, सन्मार्गकी प्राप्ति, परिणामोंकी समुज्वलता और धर्मकी श्रद्धा सातिशय वृद्धिगत हो वही सम्यक् दान है। कीर्ति या नामकेलिये दान देना दान नहीं है। कीर्तिकेलिये दान देना द्रव्यका निष्फल व्यापार है। प्रायः ऐसे दानमें विवेक और विचार सर्वथा नहीं रहता है जिससे दाता अपनी कीर्तिके लिये पापकार्यों में दान प्रदान करता है, मिथ्या-त्वकी वृद्धिके कार्योंमें दान देता है जिससे दाताकी आत्मामें मिथ्या-त्वकी प्रवृत्ति या पापोंकी प्रवृत्ति निरंतर होती है। इस सबका फल यह होता है कि ऐसे दानसे नीति सदाचार और सन्मार्गका लोप हो जाता है और दुराचार, अन्याय एवं मिथ्यात्व बढ जाता है।

जिस दानसे मिथ्यात्वकी वृद्धि हो या सन्मार्गकी हानि हो अथवा अन्याय और पापोंकी प्रवृत्ति हो उस दानका फल दाताको अवश्य

ही रौरवरूपमें महा भयंकर प्राप्त होता है। जिस प्रकार सम्यक् दानसे दाताको सन्मार्गकी प्राप्ति और स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार मिथ्यात्वादिके वढानेवाले कुदानोंसे दाताको मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति और नरकादि दुखोंकी प्राप्ति होती है।

जिस ज्ञानसे अन्याय, असदाचार वढता हो और सन्मार्ग नाश होता हो तो वह ज्ञान जीवोंको दुःखदायी और आत्माको दुर्गतिका पात्र बनानेवाला है। तलवारसे एक जीवका वध होता है परन्तु ऐसे अज्ञानरूप ज्ञानसे अनंतजीवोंका वध एक कलममें हो जाता है।

जिस दानसे ऐसे अज्ञानरूप ज्ञानकी प्रवृत्ति होती हो तो वह दान तत्काल ही संसारमें मिथ्यात्वकी वृद्धि, सन्मार्गका लोप, अन्यायकी प्रवृत्ति, सदाचार और नीतिके नाशका कारण हो जाता है और उसका फल दाताको ही अवश्य भोगना पडता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव सबको है। धनिक लोग कीर्तिकेलिये ऐसा दान देकर मिथ्या-त्वके पोषक होते हैं और नरकादि दुर्गतिके पात्र वनते हैं।

इसीलिये दानका मुख्य उद्देश्य सन्मार्गकी प्रवृत्ति वतलाई है। जिस दानसे सन्मार्गकी प्रवृत्ति नहीं होती हो वह दान नहीं है किंतु दुःखदायी कुदान है।

दानका दूसरा उद्देश्य दाताकी आत्माका कल्याण होना है। दान देकर यदि दाता दुर्गतिका पात्र हो गया तो समझना चाहिये कि दाताने अपने धनको विषैले अजगरके मुखमें रखनेका प्रयत्न किया है जिससे धनका दुरुपयोग तो हुआ ही किंतु दाताकी आत्मा भी संक-टमें पडकर दुःखकी भागी होती है।

विषैले अजगरके मुखमें हाथ डालनेसे एक वार ही प्राणोंका नाश होता है किंतु जिस दानसे दाताकी आत्मा अनंत संसारकी भागी हो, भव भवमें दुःखोंकी पात्र हो तो ऐसा दान सचमुचमें बड़ा ही भयंकर है। अन्धे कुए (कूप) में धनको डालकर सुखसे रहना उत्तम है परन्तु कुदान देकर अनंतसंसारका भागी होना यथार्थमें दुखकर है। यदि दान सन्मार्गके लोप करनेके लिये ही दिया जाय तो उस दानसे दाता अवश्य ही अनंत संसारका भागी होगा। यदि वेश्याको दान दिया जायगा तो वह वेश्या उस दानके द्रव्यसे शराबका पान करेगी और व्यभिचार फैलायेगी। ऐसे दानके दाताको दानका फल अवश्य ही भयंकर भोगना पड़ेगा।

स्वल्प दान ही क्यों न दिया जाय किंतु उस दानसे दाताकी आत्माका कल्याण अवश्य ही होना चाहिये। दाताको सुखकी प्राप्ति और संसारका नाश अवश्य ही होना चाहिये। दानके प्रभावसे यह आत्मा अजर अमर और मोक्षका स्वामी परमात्मा हो जाता है। ऐसा दानका अलौकिक अद्भुत माहात्म्य है तो फिर दानसे दाताकी आत्माका कल्याण होना चाहिये और होता है। पूर्वकालमें अनेकानेक जीवोंको दानके प्रभावसे आत्मकल्याण हुआ है ऐसा जिनागममें स्पष्ट बतलाया है, अनेक उदाहरण भी बतलाये हैं, इसलिये दान वही है कि जिससे दाताकी आत्माका कल्याण हो।

दानका तीसरा उद्देश्य पात्रकी आत्माका कल्याण करना है। पात्र वह है जो मोक्षमार्गका साधक हो। यदि दानसे पात्रकी आत्मा अविचलरूपसे निराबाध निराकुल और परमशांतिसे मोक्षमार्गको

सिद्ध कर लेवे तो समझना चाहिये कि उस दानके प्रभावसे ही पात्रने मोक्षमार्ग प्राप्त कर सर्वाङ्गरूपसे आत्मकल्याण किया। ऐसे दानके दाताओंको भी मोक्षमार्गके प्रगट करनेका उत्तम फल प्राप्त होता है।

जो पात्र मोक्षमार्गके साधक हैं वे तो दानसे मोक्षमार्गकी वृद्धि, सदाचारकी प्रवृत्ति, मिथ्यात्व और अन्यायका नाश करते हैं। किंतु जिन पात्रोंके विचार और आचरण मोक्षमार्गके साधक नहीं हैं किंतु बाधक हैं ऐसे पात्र दानका दुरुपयोग कर अपनी आत्माका अकल्याण, अहित करते हैं और अपने साथ साथ अनेक जीवोंका अहित करते हैं।

असलमें मोक्षमार्गका नाश और मोक्षमार्गका अभ्युत्थान पात्रपर निर्भर है। यदि पात्र स्वयं मोक्षमार्गका नाश करनेवाला है, मलिन और स्वार्थ विचारोंसे संसारको अपने स्वार्थमें फँसा कर अन्याय और हिंसादि पापोंमें लगानेवाला है तो उस पात्रमें दान देकर अपने हाथसे ही मोक्षमार्गका नाश कराना है। दाता अपने दानसे ही ऐसे कुपात्रोंको दान देकर मोक्षमार्गका नाश करता है और वह अपात्र दानके फलसे अपना मतलब बनाता हुआ केवल पापकार्योंमें अपनी आत्माको डुबा देता है।

इसलिये जिनागममें दानका लक्षण एवं समुद्देश्य यही माना है कि जिस दानके प्रदान करनेसे दाता और पात्रकी आत्माका कल्याण होता हो और जिस दानसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति निरंतर वृद्धिगत होती हो वही दान है। यह द्रव्यदान अपनी धनादिक वस्तुओंका सत्पात्रमें मोक्षमागको सिद्धिके लिये प्रदान किया जाता है।

द्रव्यदान देनेका मुख्य अभिप्राय परंपरारूपसे अथवा साक्षात्-

रूपसे मोक्षमार्गकी सिद्धि प्राप्त करना, मोक्षमार्गकी वृद्धि करना, मोक्ष-मार्गकी प्रवृत्ति करना तथा मोक्षमार्गकी प्रभावना व्यक्त करना है। जिस दानके प्रभावसे मोक्षमार्ग या जिनशासन यथार्थरूपसे वृद्धिगत हो, सुरक्षित हो, पवित्र और निर्दोषरूपसे जगतके जीवोंको अपनी महिमाके द्वारा कल्याणका सर्वोत्कृष्ट मार्ग बतला कर बहुतसे जीवोंको सन्मार्गमें धारण करा कर अनंत-सुखका भागी बना देवे वह द्रव्यदान है। वह कृत कारित और अनुमोदनासे तीन प्रकार होता है।

भावदानका स्वरूप—आत्माके जिन भावोंसे रागद्वेषका परित्याग आत्मासे हो अथवा रागद्वेषकी प्रवृत्ति जिन भावोंसे क्षीण होती हो वह भावदान है।

भावदानको धारण करनेवाले विशुद्ध आत्माको सब प्रकारके पापोंका परित्याग करना पडता है। रागद्वेषमें प्रवृत्ति करानेवाली इन्द्रिय और मनकी प्रवृत्ति विषय-कषायोंसे हटाकर (विषयकषायके कार्य और कारणोंका परित्याग कर) संयमकी तरफ संयोजित करनी पडती है इसलिये भावदान करनेवाले विशुद्ध आत्माको सर्व प्रकारका परिग्रह, सर्व प्रकारका आरंभ, समस्त प्रकारके विषय और समस्त प्रकारके पापरूप कार्यक्रमसे समष्टिरूप या व्यष्टिरूपमें छोड़ने पड़ते हैं। इसलिये यह दान सर्वोत्कृष्ट है साक्षात् मोक्षको सिद्ध करनेवाला है।

दोनों प्रकारके दान मोक्षके साधक और निर्वृत्तिरूप हैं। दोनों प्रकारके दान दाता और पात्रकी आत्माका कल्याण करनेवाले हैं। इसीलिये दानकी महिमा अपरंपार है।

धर्मतीर्थके आदि-प्रवर्तक श्रीपरमेश्वर परमात्मा भगवान श्रीऋषभ-

देव हैं। युगके प्रारम्भमें धर्मतीर्थकी सबसे प्रथम प्रवृत्ति आपने ही जगतके कल्याणार्थ प्रारंभ की थी। इन्द्रदेवने गर्भमें आनेके पहिले ही प्रभुकी महान महिमा प्रकट की थी और जन्म-कल्याणके समय महान् स्तुतियोंके द्वारा भगवानको जगतका उद्धारक मोक्षमार्ग-प्रवर्तक धर्म-तीर्थका स्थापक आदि महान पदोंसे संबोधित किया था। यह सब द्वादशांगके वेत्ता इन्द्रदेवका स्तवन तत्काल उत्पन्न हुए बालकका केवल एक ही भावनासे किया गया था और वह भावना यह थी कि "हे भगवन्! त्रिलोकके समस्त प्राणियोंमेंसे आपमें ही अचिन्त्य शक्ति है आपकी प्रवृत्ति लोकोत्तर है जिससे आप धर्मतीर्थकी स्थापना करेंगे।"

धर्मतीर्थके स्थापन करनेके ही कारण श्रीऋषभदेवको आदि-ब्रह्मा माना है। जगत उपकारी सार्व (सब जीवोंका हित करनेवाला) माना है।

धर्मतीर्थके स्थापनकर्त्ताका माहात्म्य जिसप्रकार देव इन्द्र नरेन्द्रोंने अनंत वाङ्मयमें गाया है उसीप्रकार दानतीर्थको स्थापन करने वाले महान पुण्यशाली महाराज श्रेयांस राजाका माहात्म्य देव नरेन्द्र और भरतचक्रवर्तीने प्रशस्त वाङ्मयमें सर्वोत्कृष्ट गाया है।

धर्मतीर्थके समान ही दानतीर्थके स्थापनकर्त्ता माने हैं। बल्कि धर्मतीर्थकी वृद्धि और उत्पत्ति दानतीर्थसे ही होती है इसलिये दान-तीर्थ सर्वोत्कृष्ट तीर्थ हैं। दान देनेवाला दाता पात्र और जगतके जीवोंका कल्याण करनेवाला है।

श्रद्धादिगुणसंपन्नः पुण्यैर्नवभिरन्वितः ।
प्रादात् भगवते दानं श्रेयान् दानादितीर्थकृत् ॥
(आदिपुराण)

भावार्थ–श्रद्धादि गुणोंसे सुशोभित और नव पुण्य-विधिसे सुशोभित महाराज श्रेयांसने श्री भगवान आदिनाथको सबसे प्रथम दान दिया इसीलिये श्रेयांस महाराज दानके आदि तीर्थकृत हुए।

भगवान जिनसेनाचार्यने दानतीर्थके प्रवर्तक श्रेयांस महाराजको दानका तीर्थंकर माना है तब दाताकी आत्माका दानसे कल्याण होना सहज बात है। अगणित जीव दानके माहात्म्यसे उसी भवमें सम्यग्दर्शन आदिको प्राप्त हो कर मोक्षके अधिकारी परमात्मा हुए हैं और दानके पात्र स्वयं तीर्थंकर देव व अगणित मुनीश्वर दानके प्रभावसे रत्नत्रयको साधना कर मोक्षके अधिकारी परमात्मा हुए हैं।

जिस दानकी महिमा "अहोदानमहोदानं" देवोंने भक्तिभावसे की है उस दानसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति आज पर्यन्त चली आ रही है।

भक्तिभाव द्वारा सम्यक् दानके प्रदान करनेसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति अनन्त समय पर्यन्त चली जाती है इसलिये दानके प्रदान करनेसे दाता और पात्रकी आत्माका कल्याण होता ही है परन्तु दानसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है जिससे असंख्य जीव मोक्षमार्गमें लवलीन हो जाते हैं और सन्मार्गगामी हो जाते हैं। बस; इसीलिये दानकी महिमा "अहोदानमहोदानं" इन शब्दोंमें की जाती है और देवगण इसीलिये पंचाश्चर्य प्रकट करते हैं।

यही बात 'दानशासन' नामके ग्रन्थमें वासुपूज्याचार्यने बतलाई है।

धर्मकारणपात्राय धर्मार्थं येन दीयते।
यद्द्रव्यं दानमित्युक्तं तद्धर्मार्जनपंडितैः ॥५॥

(दानशासन पत्र १)

भावार्थ---धर्ममूर्ति और धर्मके कारणभूत ऐसे धार्मिक पात्रको धर्मकी वृद्धिके लिये धार्मिक दाता जो स्वपरोपकारार्थ द्रव्यका उत्सर्जन (त्याग) करता है उसको गणधरादिक देव दान कहते हैं।

द्रव्यदानके सामान्य भेद।

सामान्यं दोषदं दानमुत्तमं मध्यमं तथा।
जघन्यं सर्वसंकीर्णं कारुण्यौचित्यमष्टधा * ॥

(दानशासन पत्र १)

भावार्थ—सामान्य दान १, दोषद दान २, उत्तमदान ३, मध्यम-दान ४, जघन्यदान ५, सर्वसंकीर्ण दान ६, कारुण्यदान ७, औचित्य-दान ८ इस प्रकार दानके आठ भेद हैं।

---

* राजा निजारिकृतसंगरवारणार्थं
प्रस्थापितं बलमिवे हितसर्वमन्यैः ॥(?)
जैनोत्सवेरिकृतविघ्नविनाशकेभ्यः
सामान्यमुक्तमखिलं सुजनैः प्रदत्तम् ॥१-७
निजपापार्जितं द्रव्यं द्विजेभ्यो ददते नृपाः।
तैर्नष्टा राजभिर्विप्रा दानं दोषदमुच्यते ॥ १-६

ये आठ प्रकारके दान प्रशस्त अप्रशस्त भेदसे दो प्रकार हैं। कारुण्यदान और औचित्य दान व्यवहारकी सिद्धि तथा धर्मकी प्रभावनार्थ दिया जाता है। सामान्य दान धर्मका महत्व प्रदर्शनके लिये तथा धर्मात्मा क्रियावान धार्मिक पुरुषोंकी महिमा एवं अन्य जनसे साधारण गुणोंकी महिमा प्रकट करनेके लिये दिया जाता है। दोपद दान भी क्रियावान गृहस्थोंको दिया जाता है। उत्तम मध्यम और जघन्य दान पात्रकी अपेक्षासे दिया जाता है। संकीर्ण दान धर्मकी प्रभावनार्थ दिया जाता है।

श्रीमज्जिनेन्द्रसाकल्यरूपधारिमुनीश्वरान्
सत्कृत्य दत्तमन्नादिदानमुत्तममीरितं ॥ १-१०

दत्तं मध्यमपात्राय दानमध्यममुच्यते
दत्तं जघन्यपात्राय जघन्यदानमीरितं ॥१-११

जिनोत्सवे समाहूत पात्रापात्रादिकानपि।
सत्कृत्य दत्तमन्नादिदानं संकीर्णमीरितं ॥ १-१२

रोगिणं निगलितं च बाधितं, दण्डितं क्षुधितमम्बुपातितं।
वन्हिपीडितमनेत्य वीक्ष्य च कारुण्यदानमिदमीरितं बुधैः १-१३

जैनबंधुयुगसेवनातुरान् स्कंधवाहतजनानपि निमान्
तर्पयन्त्यशनवाटिकादिभिरौचित्यदानमिदमुक्तमार्हतैः

सामान्य दानमें द्विज और दोपद दानमें विप्र ये दोनों शब्द उत्तम क्रियासंपन्न सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अथवा गृहस्थाचार्यके वाचक हैं। इन श्लोकोंका अर्थ सुगम है।

ये आठ प्रकारके दानोंमेंसे औचित्य और कारुण्यदान पुण्यके उत्पादक हैं। अवशेष समस्त दान साक्षात् मोक्षके साधक हैं। कार्य कारणरूपसे मोक्षके साधक और कितने ही परम्परारूपसे मोक्षके साधक हैं।

अन्य ग्रन्थोंमें समदत्ति १ अन्वयदत्ति २ क्षेत्रदत्ति ३ पात्रदत्ति ४ और दयादत्ति ५ इस प्रकार दानके ५ भेद जिनागममें माने हैं। ये पांच प्रकारके दान धर्मरूप हैं साक्षात्‌रूप या परंपरारूपसे मोक्षके साधक हैं।

ये पांच प्रकारके दानोंमें ही उक्त आठ प्रकारके दान अन्तर्गत हो जाते हैं। ये समस्त दान सम्यक् दान हैं। इन दानोंके सिवाय मिथ्यादानके अनेक भेद हैं। मिथ्यादानोंका विशेष वर्णन आगे किया जायगा। यहांपर यही धारणा रखनी चाहिये कि मिथ्या-दानके दाता मिथ्यामार्गकी वृद्धि करनेके कारण नरक और तिर्यंचके पात्र होते हैं।

जिसप्रकार सम्यक् दानसे जीव संसारसे निवृत्त होकर परमात्म-पदके भागी होते हैं। उसीप्रकार मिथ्यादानके फलसे अनंत संसारके भागी और दुःखोंके पात्र होते हैं।

इसप्रकार दानका स्वरूप संक्षेपसे वर्णन किया है।

दानका विशेष स्वरूप, दानका लक्षण, दानकी विधि, दानका द्रव्य, दाता, पात्र (सचेतन और सप्तक्षेत्रादिरूप अचेतन) और दानके फलसे ज्ञात होता है।

पत्तंतरया दारो दाणविहाण तहेव दायव्वं ।
दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे ॥ २१९ ॥

भावार्थ—पात्रके भेद, दाता, दानविधि, दान देने योग्य पदार्थ और दानका फल इस प्रकार पांच भेदसे दानका स्वरूप जाना जाता है।

पात्रके भेद—पात्रके सचेतन और अचेतन इस प्रकार दो भेद हैं। सचेतन पात्रके पांच भेद हैं। उत्तम पात्र १ मध्यम पात्र २ जघन्य पात्र ३ कुपात्र ४ और अपात्र ५।

जिस प्रकार उत्तम क्षेत्रमें स्वल्प बीज डालने पर स्वल्प श्रमसे ही महान मिष्ट और अभीष्ट फल सहजमें ही प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार सत्पात्रमें प्रदान किया हुआ स्वल्प दान भी उत्तमोत्तम फलोंको प्रदान करता है इसीलिये आचार्योंने पात्रदानकी ही सर्वत्र प्रशंसा की है।

क्षेत्रविशेषे काले उपित सुबीजं यथा विपुलं फलं
भवति तथा तज्जानीहि पात्रविशेषे सुदानफलं।

'रयणसार' (भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी)

भावार्थ—उत्तमक्षेत्रमें बोया हुआ बीज विपुल फलको देता है उसी-प्रकार उत्तम पात्रमें प्रदान किया हुआ दान विपुल फलको प्रदान करता है।

पात्रके भेद व सामान्य लक्षण

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं,
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यं ॥

निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं।
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥

भावार्थ—उत्तम पात्र मुनीश्वर हैं। जो चौवीस प्रकारके परिग्रह रहित, आरंभ रहित, विषय कषाय रहित, २८ मूलगुणके धारक होते हैं। ५ अणुव्रतको पालन करनेवाले और ११ प्रतिमाके धारक परम वैराग्यशील मध्यम पात्र हैं। अष्टमूलगुणोंके साथ केवल सम्यग्दर्शनसे भूपित जघन्य पात्र हैं। सम्यग्दर्शन रहित और व्रत सहित कुपात्र हैं। व्रत और दर्शन रहित केवल मिथ्यात्व धर्मके उपासक अपात्र हैं।

इस प्रकार 'दान शासन' ग्रन्थमें पात्रके पांच भेद बतलाये हैं और उनका स्वरूप संक्षेपसे एक ही श्लोकमें बतलाया है।

उत्तम पात्रके लक्षण

वयणियमसंजमभरो उत्तमपत्तं हवे साहू॥

(वसुनंदीश्रावकाचार)

भावार्थ—व्रत-नियम-और संयमका धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टी साधू उत्तमपात्र है।

एयारसठाणाठिया मज्झमपत्तं सुसावया भणिया॥

भावार्थ—उत्तम श्रावक मध्यम पात्र है। प्रथम प्रतिमा (सम्यग्दर्शन प्रतिमा) से प्रारम्भ कर आदिकी छह प्रतिमा पर्यंत मध्यममें जघन्य पात्र है। सातवीं प्रतिमासे प्रारम्भ कर नवमी प्रतिमा पर्यंत मध्यमसें मध्यम है। दशमी और एकादशी तिमा प्रधारक सम्यग्दृष्टी सर्वोत्कृष्ट श्रावक मध्यमपात्रमें उत्तम पात्र है। इस मध्यम पात्रमें ही अवलंबन

ब्रह्मचारी, गूढ़ ब्रह्मचारी, उपनय ब्रह्मचारी, दीक्षा ब्रह्मचारी और नैष्ठिक आदि विद्याभ्यास करनेवाले ब्रह्मचारीगण अन्तर्गत हैं। इसलिये मध्यमपात्रके अनेक भेद हैं और वे समस्त अपने अपने गुणोंकी समुज्वलता, कषायोंकी मन्दता, वैराग्यभावकी उत्कर्षता, चारित्रकी प्रवृद्धिता और संयमकी उत्तमताके कारण क्रमसे अनेकरूप होते हैं। जिनमें चारित्र और संयमकी सातिशय वृद्धि है ऐसे ऐलक सर्वोत्कृष्ट मध्यमपात्र हैं।

संतुष्टो यः स्वदारेषु पंचाणुव्रतपालकः।
सम्यग्दृष्टिर्गुरौ भक्तः सुपात्रं मध्यमं भवेत्॥

भावार्थ—स्वदारसंतोषी पंचाणुव्रतपालक सम्यग्दृष्टि और गुरुका भक्त मध्यम पात्र है।

अविरय सम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं।

भावार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टी अष्टमूल गुणोंका धारक या अभ्यासरूपमें पांच अणुव्रतका पालन करनेवाला पाक्षिक श्रावक और आगमकी मर्यादाका पालनकरनेवाला ऐसा जघन्य पात्र है। *

---

* उपशमनिरीहध्यानाध्ययनमहागुणा यथादृष्टाः।
येषां ते मुनिनाथा उत्तमपात्राणि तथा भणिताः ॥१२४॥
दर्शनशुद्धो धर्म्यध्यानरतः संवर्जितः निशल्यः।
पात्रविशेषो भणितः तैर्गुणैः हीनस्तु विपरीतः ॥१२५॥
सम्यक्त्वादिगुणविशेषः पात्रविशेषो जिनैर्निर्दिष्टः।
(रयणसार)

जघन्य पात्रका विशेष लक्षण

जिनगुरुधार्मिकान् दृष्ट्वा तुष्टः स्तौति नौति यः ।
तानद्विषतं भक्त्यैव जघन्यपात्रमीरितं ॥

(दानशासन)

भावार्थ—जो जिनदेव (जिनमूर्ति) जिनगुरु और जिनेन्द्र-देवके उपासक धर्मात्माओंको देखते ही प्रसन्न चित्तसे और केवल भक्ति-भावनासे स्तवन करता है, नमस्कार करता है और परम संतोषको प्राप्त होता है वह जघन्य पात्र है। वह जघन्य पात्र देव शास्त्र गुरु और धर्मात्मा पुरुषोंके साथ किसी भी कारणसे द्वेष नहीं करता है। देव शास्त्र गुरु और धर्मात्माओंके गुणोंमें उत्तम पवित्र और सर्वोत्कृष्ट भक्ति-भावना मानता है।

कुपात्रका लक्षण

धर्मे यस्यानुरागो न न शृणोति गुरोर्वचः ।
परं व्रतीव वर्तेत तं कुपात्रं विदुर्बुधाः ॥

(दानशासन)

भावार्थ—जिसका धर्ममें अनुरागभाव सर्वथा नहीं है और जिन-शासनमें अभ्यन्तर अभिरुचि नहीं है, जो गुरुओंके वचनतक श्रवण करनेके लिये तैयार नहीं है परंतु व्रतीके समान अपना जीवन पूरा करता है वह कुपात्र है।

सद्दृष्टिशीलसंपन्नं पात्रमुत्तममिष्यते ।
कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥१४१॥

(आदिपुराण ७१६)

इस श्लोकका भाव यह है कि जो देव गुरु और शास्त्रकी आज्ञाको मानना नहीं चाहता है केवल प्रतिष्ठा गौरव आदिके लिये व्रतोंका पालन कर रहा है वह कुपात्र है।

ऐसे कितने ही उदासीन या वेषको धारण करनेवाले व्रती हैं, जो देव शास्त्र गुरुकी आज्ञाको सर्वाङ्गरूपसे अविचलभावोंसे नहीं मानना चाहते हैं, केवल वाह्यकारणोंसे व्रत धारण कर लिये हैं वे कुपात्र ही हैं।

स्वधर्मचरितं चान्यधर्मवृत्तं समं च यः।
मनुते व्रतिकः सोऽदृक् कुपात्रं तं विदुर्बुधाः॥
(दानशासन)

भावार्थ—जो अपने पवित्र जैनधर्मके पवित्र आचरण—पवित्र चारित्र और अन्य मिथ्याधर्मके कदाचरणोंको एकसमान ही अपने भावोंसे समझता है परन्तु कुलाचार जैनधर्म पालन करता है और जिसके आत्मपरिणामोंमें मिथ्याभाव लगे हैं वह भी कुपात्र ही है।

ऐसे कुपात्र स्वाभाविकरूपसे मिथ्यात्व भावोंको परिणत होते हैं। मिथ्यात्वकर्मके तीव्रोदयसे वे देव शास्त्र गुरुकी आज्ञा माननेको सर्वथा तैयार नहीं रहते हैं केवल कषायोंकी मंदतासे व्रत जप तप और धर्मके आचरणोंका पालन करते हैं वे सब कुपात्र ही हैं।

वयतवसीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जिओ कुपत्तं तु॥

भावार्थ—व्रत तप शील सहित और सम्यग्दर्शनसे रहित ऐसा मुनि अथवा श्रावक कुपात्र है। जिसके जिनागमका श्रद्धान नहीं है, जो जिनागमकी मर्यादाको स्वीकार नहीं करता है, जो मायाचार पूर्वक व्रत संयम धारण करता है, जो मिथ्यात्वभावोंसे सशल्य व्रतोंको पालन

करता है; जो चरणानुयोगकी आज्ञाको सर्वज्ञदेवकी आज्ञा नहीं मानता है, जो यह ग्रन्थ प्रमाण है यह ग्रन्थ प्रमाण नहीं है इस प्रकार अपने मिथ्यात्वभावसे प्रकट करता है, जो जैनधर्मको धारण कर अपने विषय-कषायोंको पोषण करनेकेलिये गुप्तरूप या व्यक्तरूपसे जिनाचार और जिन-आज्ञाको अपनी मनकी कल्पनासे अन्यथा मान कर अवि-च्छिन्नरूपसे भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवके भाषित परम पवित्र और सर्वोत्कृष्ट चारित्रको अपने मलिनभावोंसे मलिन करता है और उस मिथ्यात्वभावसे उत्पन्न हुई मलिनताको अहंकार पूर्वक हठभावसे प्रकट कर श्रीजिनागमोक्त बतलाता है वह कुपात्र है, मिथ्यादृष्टी है। द्रव्यलिंगका धारक कठोर परिणामी और जिनधर्मकी पवित्रताको नष्ट करनेवाला तथा सत्यधर्मका घातक है।

ऐसे कुपात्र अनेक प्रकारकी महाविद्या और महान कितने ही अंगके ज्ञानके धारक होते हैं। भव्यसेन मुनि नवअंगका पाठी सर्वो-त्कृष्ट विद्वान् था परंतु उसके परिणामोंमें जिनागमका श्रद्धान नहीं था। ऐसे अनेक महाविद्या और अपरंपार ज्ञानके धारक मुनिगण भी अपने अशुद्ध भावोंसे जिनागमकी श्रद्धा न करनेसे और जिनागममें मिथ्या-भावोंको धारण करनेसे कुपात्र अवस्थाको प्राप्त होते हैं।

अपात्रका लक्षण

देवगुरुधर्मधार्मिकशास्त्रव्रतविबुधदूषकाः ।
तद्वाचः ये शृण्वंति ते अपात्रं दूरहितं ।

(दानशासन)

भावार्थ—सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म, पवित्र भावुक धर्मात्मा, सच्चे शास्त्र, पवित्र व्रत, और सत्य रूपसे जिनधर्मके पालक विद्वानोंमें जो दूषण लगा कर अवर्णवाद करते हैं, निंदा करते हैं, नीचा दिखाते हैं ऐसे मनुष्य और ऐसे मनुष्योंके निंद्य वचनोंको सुननेवाले सम्यग्दर्शनसे रहित अपात्र हैं।

(दानशासन)

धर्मापकारिणो धर्मद्वेषिणो धार्मिकद्विषः।
कुतर्किणो येऽन्योन्यमपात्रं ते विदुर्बुधाः॥

भावार्थ—जो धर्मका नाश करते हों, सच्चे धर्मसे द्वेष करते हों, धार्मिक जनोंसे द्वेष करते हों और परस्पर एक दूसरेसे मिलकर कुतर्कोंके द्वारा सत्यधर्मका लोप करते हों वे अपात्र हैं।

सम्मत्तशीलवयविवज्जियो अपत्तं जो हवे णियमा

(वसुनंदीश्रावकाचार)

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन, शील, व्रत आदि रहित मिथ्यादृष्टि हैं वे अपात्र हैं।

अपात्रके मिथ्यात्वभाव, मिथ्याचरण, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्यात्व धर्मकी मुख्यता है। जिनके भाव गृहीतमिथ्यामय हो रहे हैं वे सब अपात्र ही हैं।

ऐसे अपात्र स्वभावसे ही जिनधर्म, जिनगुरु, जिनदेव और धार्मिक सहधर्मी भाइयोंकी निंदा करते हैं, मिथ्या आक्षेप करते हैं और अवर्णवाद भी लगाते हैं। इसीलिये ग्रंथांतरोंमें अपात्रका सामान्य लक्षण यही बतलाया है कि—

"अपात्रो धर्मनिंदकः"

अपात्र—मिथ्या मतको माननेवाले गृहीतमिथ्यात्वके धारक और जैनधर्मसे सर्व प्रकारसे वहिर्भूत व्रतादि शील जप तप रहित और हिंसामय आचरण करनेवाले सब अपात्र हैं।

इस अपात्रकी गणनामें श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि द्वैतवादी अद्वैतवादी कपिल सांख्य ब्रह्मा विष्णु हरिहरादिकके उपासक, नास्तिक आर्यसमाजी, ईसाई मुहम्मद आदि मिथ्याधर्मके साधु फकीर बाबा लंगोटिया जटाधारी सोटाधारी त्रिशूलधारी पीर पैगंबर और उनके उपासक गृहस्थ आदि सब अंतर्भूत समझना चाहिये।

इसीप्रकार श्रावकगणमें भी द्रव्यलिगी श्रावक (मिथ्यादृष्टी श्रावक) होते हैं। जैनकुलमें उत्पन्न होनेसे कोई भी मनुष्य सुपात्र या सम्यग्दृष्टी नहीं हो सक्ता है किंतु वही मनुष्य सुपात्र है कि जिसके आचरण आगमके अनुकूल हैं, जिनके विचार आगमके अनुकूल हैं और जिनकी श्रद्धा आगम पर अविचल भावसे सुदृढ़ है।

जो अपने भावोंकी दुःप्रवृत्ति और विषय कषायोंकी अतिशय लोलुपतासे जिनागमके भावोंको अपनी मिथ्याकल्पनासे अन्यथारूप बतला कर जिनागमकी पवित्रताको नष्ट कर जिनधर्म और जिनागमको कलंकित करते हैं। इसीलिये कितने ही जैनकुलोत्पन्न श्रावक कहते हैं कि हमें जिनागमपर तो पूरा पूरा श्रद्धान है परन्तु श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका दर्शन पूजन करना सब ढोंग है इसलिये मंदिर नहीं आते हैं। कितने ही दानादि धार्मिक आचरणोंको व्यवहार बतला कर पात्रदत्ति समदत्ति आदि दानोंको नहीं मानते हैं। कितने ही अपनेको जैन तो

कहते हैं परंतु अरहंत देवको सर्वज्ञही नहीं मानते हैं, इसीप्रकार विधवा-विवाह, जातिपांतिलोप आदि पापकर्मको भगवान् कुन्दकुंदस्वामीकी झूटमूंट मिथ्या साक्षी प्रकट कर धर्मको कलंकित करते हैं वे सब जैनश्रावक भी अपात्र हैं।

मिथ्यात्वके भेद पांच प्रकार जिनागममें बतलाये हैं। जो पांच प्रकारके मिथ्यात्वमेंसे किसी भी प्रकारका मिथ्यात्व सेवन करता है वह अपात्र ही है।

जिनके व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं है और न व्यवहार चारित्र ही है वे सब अपात्र हैं।

जो एक दिगंबर जैनधर्मके आचरणोंको छोडकर मिथ्याधर्मके अनुसार अपने मिथ्या आचरण करते हैं और मिथ्यादेव मिथ्याशास्त्र तथा मिथ्यागुरुकी उपासना करते हैं वे सब अपात्र हैं।

सत्य धर्मसे द्वेष करनेवाले, पदार्थोंके सत्य स्वरूपको नहीं माननेवाले, हिंसा झूंठ चोरी व्यभिचार आदि पापक्रियामें धर्म माननेवाले, पुण्य पापका निषेध करनेवाले, सच्चेदेव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरुको और सच्चे धर्मको नहीं पहिचाननेवाले, विषयकषाय पापारंभादि क्रियाओंको श्रेष्ठ माननेवाले, शरीरको ही आत्मा समझकर विवेक और विचारसे शून्य हृदयवाले, मिथ्याज्ञान और कुतर्कके अवलंबनसे मिथ्या-सिद्धांतकी रचना करनेवाले, एकांतपक्षका आश्रय करनेवाले, पदार्थके सत्यस्वरूपका लोप करनेवाले, पदार्थोंके सत्यस्वरूपमें संशय करनेवाले और पदार्थके स्वरूपको विपरीत बतलानेवाले वे सब अपात्र हैं।

समस्त मतोंकी एकसी प्रशंसा करनेवाले, सत्य और मिथ्याको एक

माननेवाले, विवेक और विचारसे सर्वथा रहित, आत्मप्रशंसा चाहनेवाले, सत्यासत्यके निर्णयसे रहित अविनय मिथ्यात्वके धारक भी अपात्र हैं। बड़े बड़े ज्ञानी और वक्ताओंके दुर्भाव, दुष्प्रवृत्ति, दुराचरण, और दुष्कृति, मिथ्यात्वके उदयसे सम्यग्ज्ञान रहित तथा स्वार्थमय और आत्मप्रशंसारूप होती है जिससे उनका ज्ञान सत्यासत्यको परीक्षा करनेमें असमर्थ होता है इसीलिये ऐसे अज्ञानी भी सत्य धर्मके स्वरूपको न जानकर अज्ञानभावको धारण करते हैं और उस अज्ञानतासे पदार्थके स्वरूपको विपरीत मानकर विपरीत आचरण करते हैं वे सब अपात्र हैं।

इसप्रकार सचेतन पात्रके पांच भेद हैं। अचेतन पात्रके सात भेद जिनागममें बतलाये हैं। जिनको सप्तक्षेत्र भी कहते हैं। भगवान कुंदकुंदस्वामीने 'रयणसार' नामके ग्रंथमें सप्तक्षेत्रमें * दान देनेकी आज्ञा प्रदान की है और उसको सम्यक्दान बतलाया है।

> इह निजसुवित्तवीजं यो वपति जिनोक्तसप्तक्षेत्रेषु।
> स त्रिभुवनराज्यफलं भुनक्ति कल्याणपंचफलं ॥
>
> (रयणसार)

भावार्थ—जो भव्यजीव अपना द्रव्य श्रीजिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित सप्तक्षेत्रमें वितीर्ण करता है वह त्रिभुवनके राज्यके फलको प्राप्त होकर पंचकल्याणका भागी तीर्थंकर परमदेव होता है।

---

* १ जिनतीर्थ, जिनयात्रा २, जिनरथोत्सव ३, जिनागम ४, जिनचैत्य ५, जिनचैत्यालय ६ और जिनायतन ७ ये सप्तक्षेत्र

इसीप्रकार मिथ्या आयतन मिथ्यादेव मिथ्याशास्त्र मिथ्यादृष्टियोंके रथोत्सव, मिथ्यादृष्टियोंके धर्मकी पोषणा आदि कार्योंमें वितीर्ण किया हुआ दान अपात्रदान कहलाता है।

मिथ्यादृष्टियोंके तीर्थपर धर्मशाला वनवाना, मिथ्यादृष्टियोंका मंदिर वनवाना, मिथ्यादृष्टियोंके शास्त्र पढाना, गंगादि तीर्थोंकी प्रभावना करना और मिथ्याधर्मकी वृद्धिके लिये साधन वनवाना सो सर्व कुक्षेत्र-संवंधी अपात्रदान है।

इस कुक्षेत्रसंवंधी अपात्र दानोंमें मिथ्याधर्मके शास्त्रोंका पठन-पाठन, मिथ्याशास्त्रोंका श्रवण पूजन यह सवसे भयंकर हैं। जो भव्य-जीव अपना द्रव्य मिथ्याशास्त्रोंको वृद्धि और उत्तेजनाके लिये, मिथ्या-शास्त्र पठनपाठनकी शाला वनवानेके लिये प्रदान करता है वह पूर्णरूपसे मिथ्यादृष्टि है।

इसीप्रकार मिथ्यादेवोंके वनवाने या उनके आयतन वनवानेमें चंदा देता है वह भी अपात्र दान कर मिथ्यात्वका भागी होता है।

अचेतन हैं। इन सप्तक्षेत्रोंकी सिद्धिके लिये प्रदान किया हुआ द्रव्य अगणितजीवोंको सम्यक्त्व उत्पन्न कराकर जिनशासनका माहात्म्य और मोक्षमार्गकी सिद्धि महान् प्रभावनाके साथ भव्य-जीवोंको कराता है और दाताको पंचकल्याणका भागी वनाता है। जिन कारणोंसे सप्तक्षेत्र समुन्नत रहे और अपनी महिमा प्रकट कर वृद्धि करसके ऐसे सप्तक्षेत्रके कारणकलापोंमें दान देना वह भी क्षेत्रदान है।

जैनस्कूल जैनबोर्डिङ्गके नामसे किया हुआ दान प्रायः अधिक-भागमें जैनधर्मका घातक ही होता है इसलिये ऐसा दान भी अनेकांश-रूपसे अयोग्य क्षेत्रगतदान है। अपात्रदान है।

अपात्रदानके भेद अधिक हैं। उन सबका विचार करना कठिन है। इसलिये इतना ही समझना योग्य होगा कि जिस पात्रसे सत्यधर्मका लोप, सदाचारका लोप, और जिनशासनका लोप होता हो वे सब अपात्र हैं। जो पात्र मनमाने स्वतंत्र मार्गपर चलना चाहते हैं, हित अहित, भला बुरा, सत्य असत्य, सदाचार दुराचार, नीति अनीति, अहिंसा हिंसा, और पुण्य पाप आदि किसी बातका विचार नहीं करना चाहते हैं केवल किसी भी कारणसे संसारकी वृद्धिमें ही आत्मोन्नति तथा आत्म-सुख माननेवाले हैं वे सब अपात्र हैं।

भगवान जिनसेनाचार्यने परमागममें बतलाया है कि जिसप्रकार सुपात्रको दान देनेसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति और दाता तथा पात्रको मोक्षकी सिद्धि नियमित रूपसे होती है उसीप्रकार अपात्रदानसे संसारकी वृद्धि तथा दाता और पात्रको अनंत संसार होता है, अनंतानंत योनि-योंमें दुःखकी प्राप्ति होती है।

इसलिये अपात्रदान हेय है त्याज्य है और पात्रदान उपादेय है. ग्राह्य है, सुखकर है।

प्रश्न—अपात्रदानके फलसे दाता और पात्रको संसारकी वृद्धि कैसे होती है? तथा दाताने तो द्रव्यसे ममत्वभाव छोडकर पुण्यका कार्य किया है इसलिये उसको अच्छा फल प्राप्त होना चाहिये?

समाधान—यद्यपि यह प्रश्नका यहांपर अप्रासंगिक है। दानफल-

प्रकरणमें इसका समाधान हो ही जाता है फिर भो प्रसंगवश अति संक्षेपसे विचार करते हैं।

कह्मि अपत्तविसेसे दियणं दाणं दुहावहं होई।
कह्म जह विसहरस्स दिण्णं तिव्वविसं जायए खीरं॥
(वसु० श्रा०)

अर्थ—जिसप्रकार उत्तम दुग्ध सर्पको दिया जाय तो वह अपात्र सर्प उस दुग्धका विप उत्पन्न करता है और उस विषसे स्वयं दुष्ट होता है, दूसरोंको नष्ट करता है मारता है इस प्रकारको हिंसासे सर्पको दुग्ध पिलानेवालेको भी उसका फल भोगना पडता है। अथवा जैसे गांजा पीनेवालेको गांजा पीनेको दिया जाय, तो वह गांज' पीनेवाला स्वयं भ्रष्ट और उन्मादी होता है तथा अन्य कितने हो मनुष्योंको उन्मादी वना देता है। जैसे वेश्याको द्रव्य दिया जाय तो वह वेश्या उस द्रव्यसे पापाचरण ही करेगी और उस द्रव्यका फल द्रव्यदाताको भी अवश्य ही प्राप्त होगा।

इसका मूल कारण यह है कि पदार्थोंको जैसा संयोग प्राप्त होना है तो उन पदार्थोंका परिणमन भी वैसा ही होता है। मेघका पानी नीममें प्राप्त होनेसे कटुक, इक्षुमें जानेसे मीठा, क्षार पदार्थमें जानेसे खारी, नीवूमें जानेसे खट्टा, हरडके वृक्षमें जानेसे कषायला हो जाता है। पदार्थोंका स्वभाव ही यह है कि पदार्थोंको जैसा संयोग मिलता है वे उसी प्रकार अपना परिणमन कर लेते हैं।

अपात्रमें प्रदान कियेहुये दानका विपरीत परिणमन अपात्र अपने भावोंसे स्वयमेव करता है, उसका फल विपरीतरूप स्वयं भोगता है और

अपने दुष्कृत्योंसे अन्यजीवोंको विपरीत फलका प्रदाता होता है। जिस दानसे अपात्र पापोंकी प्रवृत्ति, अन्याय, जीवहिंसा, मिथ्यात्वकी वृद्धि और असदाचारका प्रचार कर स्वयं पतित होता है और अनेकानेक भोले जीवोंको अपना साथी बनाकर सबको ही पतित करता है। यह सबकी पतित अवस्था उस दानके कारणसे ही होती है, इसलिये उसका फल दाताको भी भोगना होता है। इस विषयमें जिनागममें बतलाया है कि—

कुमानुषत्वमाप्नोति जंतुर्ददपात्रके।
अशोधितमिवालाबु तद्धि दानं प्रदूषयेत् ॥१४२॥
आमपात्रे यथाक्षिप्तमिक्षुक्षीरादि नश्यति।
अपात्रेऽपि तथा दानं स्वं तथा तच्च नाशयेत् ॥१४३॥
न हि लोहमयं यान पात्रमुत्तारयेत्परं।
तथा कर्मभराक्रांतो दोषवान्नैव तारकः ॥१४४॥

(आदिपुराण ७१६ पत्र)

भावार्थ—अपात्रमें दान करनेवाला दाता कुमनुष्य उत्पन्न होता है। जैसे कटुक तुम्बीमें दुग्ध रखा जाय तो वह मीठा दूध भी कटुक और विषके तुल्य हो जाता है। कच्चे मिट्टीके घड़ेमें दूध अथवा इक्षुरस भर कर रख दिया जाय तो वह नष्ट हो जाता है। इसीप्रकार अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान पात्रको निधन करता है और दाताको नष्ट कर देता है जिसप्रकार लोहेके जिहाजमें बैठनेसे जिहाज और सवार दोनों ही समुद्रमें डूब जाते हैं ठीक इसीप्रकार अपात्रमें प्रदान करनेवाला दाता और पात्र (लेनेवाला) दोनों ही संसारसमुद्रमें डूब जाते हैं

जो स्वयं सदोषी है, पापिष्ठ है, भारवाही है वह दूसरोंको क्या तार सक्ता है ?

जह ऊसरम्मिखित्ते पइणं बीयं ण किं पि रुहेइ ।
फलवज्जियं वियाणइ अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥

(वसुनंदीश्रावकाचार)

जिसप्रकार ऊपर क्षेत्रमें बोया हुआ बीज नष्ट होकर बोनेवाले (वपन करनेवाले) के परिश्रमको नष्ट कर देता है ठीक इसीप्रकार अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान दाताके पुण्यको मलिन कर देता है ।

जिसप्रकार विधवाकी प्रसूति हास्यास्पद है उसीप्रकार अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान हास्यास्पद है ।

जिसप्रकार तप्त लोहेपर धातुके छींटे डालनेसे वे छींटे उड़कर डालनेवालेको भस्म कर देते हैं इसीप्रकार अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान दाताको पापकी प्रवृत्तिके कारण दुःखोंसे भस्म कर देता है ।

अंधकूपे वरं क्षिप्तं नापात्रे निहितं धनं ।
यतो ह्यसौ दात्रा सह विपरीतमवाप्यते ॥

भावार्थ—अंध कूपमें धन डाल देना उत्तम है परंतु अपात्रमें धनका दान करना ठीक नहीं है क्योंकि उस दानसे पात्र दाताके साथ विपरीत फलको प्राप्त होता है ।

पात्राणि मत्वा ददते कुदृग्भ्यो वित्तानि मिथ्यात्वमुपव्रजंति ।
दुष्टाय दुष्टत्वमयंति मूढाः पापाय येऽहांसि च येत्र ते ते ॥

(दानशासन ४-६)

भावार्थ—जो मिथ्यादृष्टियोंको पात्र समझ कर अपने धनको देता है, दान करता है वह उस दानके फलसे मिथ्याभावको शीघ्रही प्राप्त हो जाता है। यह बात सच है कि मूर्ख लोग दुष्टताके लिये दुष्ट भावको प्राप्त होते हैं क्योंकि पापकेलिये विशेष पापोंको दान देकर उत्तेजित करना सो दानसे पापोंका ही बढ़ाना है। पापोंकी वृद्धिसे दाता और पात्र तथा अनेक भोले जीव अनंत संसारको प्राप्त होते हैं।

इसप्रकार अति संक्षेपसे यह बतलाया है कि अपात्र दान देनेवाले दाताको भी दानका फल भयंकररूपसे दुखद होता है। इसलिये किसी अवस्थामें भी अपात्रको दान नहीं देना चाहिये।

जो लोग मिथ्यादृष्टि ब्राह्मणोंको उत्तम समझकर विवाह, मरण, पुत्रोत्पत्ति और पुण्यकी प्राप्तिकेलिये दान देते हैं, भोजन कराते हैं वे सब अपात्रको दान देकर सत्यधर्मके निंदकोंको पोषण कर मिथ्यामार्गको वृद्धि करते हैं और अपनेको उस मिथ्यात्वसे संसारका पात्र बनाते हैं।

यज्ञादि कर्मोंमें जीवहिंसा करनेवाले, मिथ्या देव शास्त्र और कुगुरुओंके उपासक, निंद्य आचरण करनेवाले, मिथ्यामार्गको महान अज्ञानताके साथ बढानेवाले, गृहीत मिथ्यात्वके धारक और वस्तुस्वरूपको नहीं जाननेवाले ब्राह्मण उत्तम किसी प्रकार नहीं हो सक्ते हैं। वे अधम अपात्र हैं उनको पात्र समझकर दान देनेसे नियमसे अधोगति होती है।

"वरमेकोप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः।"

भावार्थ—हजार विद्वान् मिथ्यादृष्टियोंको दान देनेकी अपेक्षा

एक भी जैनको दान देकर उपकार करना महान श्रेष्ठ है सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि वह जैन व्यवहार सम्यग्दृष्टी होनेसे पात्र है और वे हजारों विद्वान् ब्राह्मण मिथ्यादृष्टि होनेसे अपात्र हैं। अपात्रमें दान देना मिथ्यात्वको बढाना है।

यदि जैन श्वेतांवर है तो भी वह अपात्र ही है। मिथ्यादृष्टीके समान ही है।

दाताका लक्षण

दान देनेकेलिये जिसप्रकार सुपात्र उत्तम समझा जाता है और उसका फल उत्तम मोक्षमार्गकी सिद्धिरूप होता है उसीप्रकार यदि दाता उत्तम है तब ही दानका फल दाताको उत्तम रूपसे प्राप्त होगा। यदि दाता निकृष्ट है, अयोग्य है, हीनाचारी है, मिथ्याधर्मका उपासक है, क्रियासे अनभिज्ञ है, मलिनाचारी है, लोभी है, पाप क्रियाओंका करनेवाला है, सदाचारसे शून्य है, विवेक रहित है, दाताके चिह्नसे रहित है, निंद्य है, पतित है, जातिच्युत है, सज्जातिसे रहित है, हिंसादि पातकोंको करनेवाला है, श्रावककी पवित्र क्रियाओंसे सर्वथा शून्य है, रोगी है, हीनांग है, विकल है, उन्मत्त है, अतिशय वृद्ध है, अंधा है, अमनस्क है और देवशास्त्रगुरुकी श्रद्धासे विहीन है तो वह सुपात्रको दान देनेका कभी अधिकारी नहीं है।

इसीप्रकार नीचकुलोत्पन्न मनुष्य भी सुपात्रको दान देनेका सर्वथा अधिकारी नहीं है।

दाताका लक्षण

भक्तिमान् सरलो ज्ञानी सुदृष्टिर्विनयान्वितः ।
मद्यमांसमधुत्यागी पंचोदुम्बरवर्जितः ॥
त्रिवर्णस्तु कुलाचारपालनोद्यतमानसः ।
उपनीत्यादिसंस्कारविहितो मधुराशयः ॥
आहारादिक्रियाभिज्ञः शुचिःपूतक्रियाग्रणीः ।
देशकालागमद्रव्यविधिज्ञो धौतवस्त्रभाक् ॥
देवशास्त्रगुरूणां ह्युपासको धर्मवत्सलः ।
औदार्यादिगुणोपेतो विगर्वो लोभवर्जितः ॥
इत्यादि सुगुणोपेतो दाता स्यात् सुप्रसन्नवाक् ।

(दानशासन)

भावार्थ—दाता भक्तिमान होना चाहिये । भक्तिके विना दाताके समस्त कर्म विफल हो जाते हैं। भक्तिके विना दाता विरूपकताको प्राप्त होता है। दाता सरल हृदयवाला निष्कपट और मायाचारसे रहित हो। ज्ञानी हो—ज्ञानके विना दानको विधि और श्रेष्ठदानकी पद्धतिको नहीं जाननेसे बिपरीत आचरण करने लगता है। दाता सम्यग्दृष्टी हो, विनयवान हो, मूल गुणधारक (मद्य मांस मधु और पांच उदंबर फलका त्यागी) हो, त्रिवर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) हो, जैन धर्मास्नाय के समस्त कुलाचारों (पानी छानना, रात्रिमें भोजन नहीं करना, रसोई की शुद्धता रखना, रजस्वला और सूतक पातकका पालन करना इत्यादि समस्त कुलाचार कहलाते हैं) के पालन करनेमें लवलीन हो, उपनीत

(यज्ञोपवीत) आदि संस्कारोंका करनेवाला हो, मधुराशय हो, आहारादि क्रियाका जाननेवाला हो, स्वयं पवित्र हो और पवित्रताके साथ समस्त क्रियाओंका करनेवाला हो, देश काल आगम, दानकी द्रव्य और दान देनेकी विधिको जाननेवाला हो, धौत शुद्ध वस्त्रोंको धारण करनेवाला हो, देव शास्त्र गुरुका पूर्ण उपासना करनेवाला हो, धर्मवत्सल हो, औदार्य आदि गुणोंसे सुशोभित हो, अभिमानसे रहित हो, लोभ रहित हो, इत्यादि अनेक गुणसंपन्न और प्रसन्नतापूर्वक हर्षितहृदय वचन कहनेवाला दाता होता है।

सामान्य रूपसे दाताके लक्षण उपर्युक्त बतलाये हैं। ये विशेषरूपसे अधिकाधिक गुण दातामें होना चाहिये।

पंचाश्चर्यवृष्टि उत्तम दाता और उत्तम पात्रके मिलनेपर होती है। इसलिये उत्तम दानका प्रदाता भी उत्तम गुण सहित होना चाहिये।

दाताके गुण

श्रद्धाभक्तिरलोभत्वं दया शक्तिः क्षमा परा।
विज्ञानं चेति सप्तैते गुणा दातुः प्रकीर्तिताः॥

भावार्थ—श्रद्धा १ भक्ति २ अलोभत्व ३ दया ४ शक्ति ५ क्षमा ६ और विज्ञान ७ ये सात गुण दातामें होते हैं। ग्रंथांतरोंमें निम्नलिखित सात गुण बतलाये हैं।*

---

* श्रद्धाऽस्तिक्यमतिथ्य तुष्टिरमलानंदस्तु भक्तिर्गुरोः,
सेवालोलुपता विदांकुशलता विज्ञानमर्थव्यये ॥

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया शक्तिः ।
यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसति ॥

(दानशासन)

आदिपुराण पत्र ७१० में निम्नलिखित सप्त गुण बतलाये हैं—

श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता
क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥८२॥

श्रद्धागुण

पापोच्चयं मम निवारयितुं समर्थं

निर्लोभत्वमलोभताप्युपशमोत्कर्षे क्षमा सर्वदा ।
द्रव्यत्यागविधौ न नास्ति वचनं शक्तिस्तु सप्तोदिताः ॥

भावार्थ—आस्तिक्यबुद्धिको श्रद्धा कहते हैं। उत्तम हर्षपूर्वक आनंद माननेको तुष्टि कहते हैं। गुरुकी अनन्य भावसे सेवा करना सो भक्ति है। लोभका परित्याग करनेको अलुब्धता कहते हैं। उपशम भावोंके उत्कर्षको क्षमा कहते हैं। द्रव्यके दानविधिमें आगमकी मर्यादा देश काल और शुभाशुभ आहारके ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। द्रव्यके परित्यागमें "नहीं है" इस प्रकार नकार नहीं करना शक्ति है।

श्रद्धाऽऽस्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादरः ।
भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात्तद्गुणादरः ॥
विज्ञानं स्यात्क्रमज्ञत्वं देयशक्तिरलुब्धता ।
क्षमातितिक्षा ददतः त्यागः सद्व्ययशीलता ॥८२॥

(आदिपुराण पत्र ७१०)

हंतुं, दरिद्रमिदमाशु समर्थमेवं।
दातुं सपुण्यमजडं रतिरद्वितीया,
श्रद्धेति तत्र मुनयः खलु तां वदंति॥

भावार्थ—यह पात्र मेरे समस्त पापोंको निवारण करनेके लिये सर्वाङ्गरूपसे समर्थ है और मेरी दरिद्रता आदि दुःखोंको दूर करनेके-लिये यह पात्र शीघ्र ही समर्थ है। पुण्य प्रदान करनेकेलिये समर्थ है। दुर्बुद्धिको हरण करनेको समर्थ है। ऐसे पात्रमें अद्वितीय प्रेम करना सो श्रद्धा गुण है।

तुष्टिगुण

यथा चन्द्रोदये जाते वृद्धिं याति पयोनिधिः।
सतां हृदयतोषाब्धिर्मुनिचंद्रोदये सति॥

भावार्थ—जिसप्रकार चंद्रके उदय होनेसे समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है, परमाल्हादित होता है, उसीप्रकार मुनिरूपी चन्द्रका उदय होनेपर दाताके हृदयका संतोषरूपी समुद्र आल्हादसे परिपूर्ण हो जावे उसको तुष्टिगुण कहते हैं।

भक्तिगुण

आभुक्तेर्मुनिसन्निधौ शुभमतिः स्थित्वा विशोध्यमलान्।
आहारान् परिहार्य वीक्ष्य सततं मार्जारकीटादिकान्॥
भुक्त्यन्ते परिणम्य साधु हृदि संतृप्तो भवेद्यः पुमान्।
दाता तन्मुनिसेवनेयमुदिता भक्तिश्च सा पुण्यदा॥

भावार्थ—शुभ बुद्धिवाला दाता मुनिगण जब तक भोजन करते हैं, तब तक मुनिगणके समीप स्थिर रहता और आहारके दोषोंको (मलोंको) परिशोधन कर बड़ी भक्ति भावनासे आहार देता है। तथा भोजनशालामें मार्जार कीट आदि जंतुओंको सतत निरीक्षण करता रहता है। भोजनके अंतमें मुनिगणोंको भक्ति भावनासे नमस्कार करता है, अभ्यंतर परिणामोंसे साधुके मनको तृप्त करता है और निरंतर पात्रकी सेवामें अभ्यंतर भावोंसे लवलीन रहता है ऐसा पात्रके गुणोंमें अटूट प्रेमभाव सो दाताकी भक्ति है।

विज्ञान गुण

यद्दोषहरं यथामयहरं यन्मानसस्थानकृत्।
यन्निद्रादिहरं यदव्ययमनु स्वाध्यायसंपत्तिकृत्।
....
पूतं विहृति स्वहस्तदत्तमशनं विज्ञान दद्याद्यतेः ॥

भावार्थ—जो दोषको शमन (वात पित्त कफादि दोषोंको शमन करनेवाला) करनेवाला, यथासाध्य व्याधिको हरण करनेवाला, जो पात्रकी प्रकृतिको रुचिकर और स्वस्थताका प्रदान करनेवाला, निद्रा कफ गर्मी सरदी आदि उपद्रवोंका नाश करनेवाला, हलका पथ्यरूप निरंतर स्वाध्यायको वृद्धिगत करनेवाला ऐसा आहार अपने ज्ञानसे समस्त प्रकारके विचारोंसे पात्रके अनुकूलतापूर्वक अपने हाथसे दान करता है वह दाताका विज्ञानगुण है।

अलुब्धता गुण

यावद्गोहलसंपदस्तिविमलं, क्षेत्रं फलत्यद्भुतं,

भूरि ग्रासवती च गौःक्षरति सुक्षीरं घटापूरितं
वर्षं तृप्तिकरं रसेष्टवसुधो यत्पात्र साहित्यकृत,
यद्दानं सफलं स एव सफलो दाता ह्यलुब्धो महान् ॥

भावार्थ—जबतक गृहमें कुछ भी संपत्ति है और जबतक मेरे क्षेत्रमें अद्भुत धान्यादि संपत्ति उत्पन्न होती है। जबतक बहुत ग्रास करनेवाली गायें घड़ा भर कर उत्तम दूध देती हैं। जबतक इन्द्रियोंका तृप्त करनेवाले समस्त रस मेरे पास हैं जिनसे पात्रका यथोचित (वैयाव्रत) दान हो सक्ता है तबतक मैं अपनी समग्र सामग्री और धनादिक विभूतिसे पात्रको दान देकर सफल करूंगा ऐसे दाताके परिणामका होना सो अलुब्धता गुण है। दाता अपने भावोंसे अपनी समस्त विभूति और समग्र सामग्री पात्रकेलिये प्रदान करनेमें संकोचभावोंको नहीं करता है बल्कि पात्रमें धनका सदुपयोग होनेसे अपने भावोंसे आल्हादित होकर निर्ममत्व भावको प्रकट करता है वह दाताका निर्लोभ-गुण है।

क्षमा गुण

संक्लेश जडता क्रोधं भयहट्टे च दुर्वचनदुर्भावं।
कषायोद्भवदुश्चेष्टां त्यजति स भवेत् क्षमावान् धीरः ॥

भावार्थ—जो दाता संक्लेश परिणाम, जाड्य परिणाम और क्रोध परिणामोंका त्याग करता है भय तथा हठका परित्याग करता है, दुर्वचन तथा दुर्भावोंका परित्याग करता है और कषायोंसे होनेवाली दुश्चेष्टाका परित्याग करता है वह धीर क्षमावान् दाता है।

शक्तिगुण

यो शक्तिमनुगूह्य हर्षितमनसा करोति यद्दानं ।
सहसा पात्रं वीक्ष्य पुरतो धावति पात्रलाभाय ॥

भावार्थ—जो दाता अपनी शक्तिको नहीं छुपाकर हर्षित चित्तसे दान देता है, पात्रको सहज देखनेमात्रसे ही पात्रलाभके लिये सबसे आगे जाता है वह दाता शक्तिगुणका धारक है। पात्रको सहज देखनेमात्रसे ही जिनके मनमें पात्रलाभकी उमंग सहसा वृद्धिगत होती है और अपनी शक्तिको नहीं छुपाकर निरन्तर पात्रदान करनेके लिये जो दाता समुद्यत रहता है वह शक्तिगुणका धारक है।

दाताके उपर्युक्त सात गुण हैं। इन गुणोंके साथ साथ अन्य कितनेही गुण दातामें होते हैं उनमेंसे कुछ गुणोंका दिग्दर्शन यहांपर करते हैं।

शुचिः पटुः साधुमनोनुकूलपथ्यान्नदाने निपुणोऽनुरागी ।
सुदृग्व्रती वृसमनाः श्रमघ्नो भुक्तिप्रदाने यतिना प्रशस्यः ॥
(दानशासन)

भावार्थ—दाता सर्वाङ्गरूपसे शुद्ध होना चाहिये। स्नानशुद्धि आदि शुद्धि होनेकी क्रिया द्वारा शरीर और इन्द्रियोंके मल आदि दोषोंसे शुद्ध हो, शुद्ध वस्त्र (धोती दुपट्टा) धारण किये हो, स्नानादि क्रियाके पश्चात् शुद्ध होनेपर किसीको स्पर्श करनेवाला न हो, पटु हो, समयोचित योग्य क्रियाके जाननेमें सातिशय प्रवीण हो। साधु (पात्र)के मनके अनुकूल पथ्य अन्नादि दानके प्रदानमें अतिशय प्रवीण हो,

पात्रके गुणोंमें विशेष अनुरागी विनयवान धार्मिक बुद्धिवाला हो, सम्यग्दृष्टी हो, व्रती हो, संतोषी हो, मत्सर-द्रोह-और कलह आदि दुर्गुणोंसे रहित हो। पात्रकी वैयावृत्य और दानादि क्रियामें होनेवाले परिश्रमको जीतनेवाला हो अथवा मुनियोंके समस्त प्रकारके परिश्रमको दूर करनेवाला हो ऐसा दाता प्रशंसनीय होता है।

दाताको श्रावककी समस्त क्रियाओंका परिज्ञान होना चाहिये। अन्न रस आदि समस्त पदार्थोंकी मर्यादा, पदार्थोंको निर्जंतुक स्थानमें रखने उठानेका विवेक, वर्तन और पात्र आदिकी शुद्धिका विचार, अन्नादि पदार्थोंकी शुद्धिका विचार और क्षेत्रादि शुद्धि आदि बातोंका परिपूर्ण ज्ञान होना चाहिये, इसीप्रकार सचित्त वस्तु अचित्त वस्तुका परिज्ञान अवश्यही होना चाहिये। देश काल आगम और पात्रकी अवस्थाका ज्ञान होना चाहिये।

दाता श्रावकके यज्ञोपवीत तिलक आदि चिह्नोंका धारक हो।

दाता यदि स्त्री हो तो भी उसको दाताके समस्त गुणोंका ज्ञान होना चाहिये। स्त्री या पुरुष कोई भी हो दाताको समस्त आहारादि दानकी क्रिया अपने हाथसे शुद्धतापूर्वक करनी चाहिये।

स्त्री दाता हो तो रजस्वला, रोगिष्टा और विकला न हो, शुद्ध हो, पवित्र वस्त्र और सौभाग्य चिन्होंको धारण करनेवाली हो। यदि स्त्री विधवा हो तो सौभाग्य चिन्हसे रहित वैधव्य दीक्षाके चिन्होंसे सुशोभित हो।

स्त्रियः कृतायाः सदयाः महोत्सवाः।
सुधौतवस्त्राः शुचयो महोज्वलाः॥

भवंति पात्रागमनेषु भाविकाः ।
मनोवचःकायविशुद्धयश्च ॥२४॥

भावार्थ—निःपाप प्रवृत्तिवाली, दयावाली और पात्रके आगमनमें महान् महोत्सवको करनेवाली, शुद्ध पवित्रताको धारण करनेवाली, पवित्र भावोंको रखनेवाली दान प्रदान करनेमें अत्यंत भाव और भक्ति करनेवाली, मन वचन कायको पवित्र रखनेवाली, पात्रदानके समय ऐसी स्त्री प्रशंसनीय है ।

शुद्धि

दानप्रकरणमें जिसप्रकार दाताकी सर्वाङ्ग शुद्धि वतलाई है। इसी प्रकार क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, देशशुद्धि, पिंडशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, भाजनशुद्धि और कायशुद्धि आदि शुद्धियोंका विचार परमावश्यक है।

शुद्धिके विना दानका फल सर्वाङ्गरूपसे परिपूर्ण प्राप्त नहीं होता है। इसलिये आगममें सबसे अधिक विचार शुद्धियोंका वतलाया है। शुद्धिके विना दान ही नहीं होता है। अतिशय विशुद्ध परम निर्मल पात्रोंको दान प्रदान करनेकेलिये समस्त क्रियायें विशुद्ध होनी चाहिये। जितने अंशोंमें विशुद्धता कम होगी दानका फल उतने अंशोंमें हीन होगा। यदि दाताके भाव ही विशुद्ध नहीं हैं तो दाताको पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता है। यदि द्रव्य विशुद्ध नहीं है तो दाता और पात्रको विपरीत फल होता है यदि विधि अशुद्ध है तो भी दाता और पात्रको अशुभ फल होता है।

यदि क्षेत्र अशुद्ध हो तो अन्तरायका कारण होता है। यदि दाताका पिंड अशुद्ध है तो आहारदान करनेका अधिकार ही नहीं प्राप्त होता है। यदि देश अशुद्ध है तो रोगादिक उत्पन्न होते हैं। यदि काल अशुद्ध है तो दानकी क्रिया निरर्थक होती है इसप्रकार जिन अंशमें और जितने रूपमें अशुद्धता होगी उतनेही अंशमें दान देनेमें न्यूनता और फलांशमें न्यूनता अवश्य प्राप्त होगी।

क्षेत्रशुद्धिकी आवश्यकता।

दानशाला कैसी होनी चाहिये? दानशालाको अपने देशमें चौका कहते हैं। चौकाका क्षेत्र कैसा विशुद्ध होना चाहिये? चौकाकी जैसी उत्तम प्रकारसे विशुद्धि रखी जायगी दाता और पात्रके भावोंमें उतनीही अधिकांशरूपसे शुद्धि होती है। यदि चौकाका क्षेत्रही अशुद्ध घिनावना कूड़ा-कचरासहित· बीभत्स है तो दाता और पात्र दोनोंके परिणामोंमें शंका और क्रियानभिज्ञताकी शल्य उत्पन्न होती है।

क्षेत्रमादौ सुसंस्कृत्य पश्चाद्बीजं वपन्निव।
गेहं पात्रं च संस्कृत्य कृतदानात्सुखी भवेत्॥२४॥

भावार्थ—दान प्रदान करनेकेलिये सबसे प्रथम क्षेत्र और पात्र-शुद्ध होना चाहिये। जैसे क्षेत्रका संस्कार करनेसे बीज बोया जाता है, इसीप्रकार क्षेत्र और पात्र संस्कारित होनेपर दानसे सुख होता है।

सबसे प्रथम चौकाके क्षेत्रकी शुद्धिकी आवश्यकता ही मुख्य मानी है। इसलिये दाताको क्षेत्रशुद्धिपर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये फूहर स्त्री या सुधारक स्त्रियां चौकेकी शुद्धिको समझती ही नहीं हैं।

चौकाकी शुद्धिको वे ग्रामीण बेकार धंधा समझती हैं। परन्तु चौकाके क्षेत्रकी शुद्धि प्रथम शुद्धि है। यदि यह शुद्धि नहीं है तो उसकी अन्य समस्त क्रियाएं नहीं सुधरती हैं। एक कहावत है कि "जिसका चौका सुधरा उसकी सब क्रियां सुधरीं, जिसकी दाल साक सुधरी उसका भोजन सुधरा, जिसका कुटुम्ब सुधरा उसका घर सुधरा" इसलिये क्षेत्रशुद्धिपर विशेष ध्यान रखना चाहिये नहीं तो क्षेत्रशुद्धिके विना मक्खियां भिनन भिनन करती हुई दाताकी क्रियाका परिचय कराती रहती हैं।

क्षेत्र शुद्धिका स्वरूप

प्रत्ने सद्मनि सूतकोकसकुदृक् शूद्राश्रये व्यान्नचेन्। (?)
रोवर्त्यैव्रतिकोपि गोमयपयसंसिक्तभित्तिच्छिदि ॥
होमेनापि सुगंधिशुद्धविमलं गोविट्पवित्रांगणं।
तत्रार्हत्पदसेवकः सुदृगयं भुंजीत योगीश्वरः ॥

(वासुपूज्यपिंकृत दानशासन)

जिस घरको दाताने जीवजंतुको प्रयत्नपूर्वक दूर कर और झाड बुहार कर साफ किया हो, जिस घरमें चाम हाड मल मूत्र आदि पदार्थोंका संपर्क न हो, जिसमें मिथ्यादृष्टी जिनशासनके द्रोही न रहते हों, जिस घरमें शूद्रका निवास न हो, जिस घरमें व्रतिक भी मिथ्यादृष्टिके समान मलिन विचारवाला न हो, गायके गोवर और पानीसे भित्ति आदि चौकमें छिड़काव किया हो, होम पुण्याहवाचना आदि पवित्र क्रियाओंसे सुगंधित और शुद्ध हो, पवित्र हो, ऐसे शुद्ध

गृहमें जिनेन्द्रभगवानके चरणकमलोंका सेवन करनेवाले सम्यग्दृष्टी योगीश्वर आहारदान ग्रहण करते हैं।

गोमयचूर्णविलिप्तं शुद्धं पुण्याहवाचनाहोमाभ्यां।
सिक्तं गंधांबुलयं गेहं भोक्तुं मुनिजनाय योग्यं स्यात्॥
(दानशासन)

भावार्थ—जो घर गोवरसे लीप कर शुद्ध किया हो, होम और पुण्याहवाचनसे पवित्र किया हो और श्रीजिनेन्द्रदेवके परम पवित्र

---

(१) श्रीराजवार्तिक नामके परमागममें भगवान अकलंकदेवने गोवरको व्यवहारशुद्धिकेलिये मान्य किया है।

राजवार्तिक नवमाध्याय पत्र ३२८

लौकिकशुचित्वमष्टविधं—कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिल-ज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदात्—

भावार्थ—कालशुद्धि १ अग्निशुद्धि २ भस्मशुद्धि ३ मृत्तिकाशुद्धि ४ गोमयशुद्धि५ जलशुद्धि ६ ज्ञानशुद्धि ७ और निर्विचिकित्सत्व-शुद्धि ८ ये आठ प्रकारसे लौकिकशुद्धि होती है।

यद्यपि शास्त्रोंके अनुसार गोमयशुद्धिका विधान है और वह सनातनसे प्रचलित है तथापि कुछ दिनोंसे कुछ विशेष प्रान्तोंमें लोग इसका विरोध करने लगे हैं। जो लोग इसका विरोध करते हों उनको चाहिये कि वे केवल मिट्टी-से या जिसतरहसे योग्य और उचित समझें उससे शुद्धि कर लें इसमें कुछ विवादकी बात नहीं है।

गंधोदकके सिंचनसे परम पवित्र किया हो, वह घर मुनिजनोंके भुक्तिके-लिये योग्य है। (दानशासन)

स्नाता धौतसिचः सदावदशनाः पुत्राद्यलोकास्पृशः।
गोविट्पूतगृहे निवेशितजने मत्यग्रभांडादिभिः॥
पक्षैः मूढजनैरस्पृश्यपशुभिः वाऽजैः कुदृग्भिः सदा।
स्वान् देवानिव पूजयंति बहुधोत्साहैर्मुनीन् धार्मिकाः॥

भावार्थ—रसोई बनानेवाली स्त्री स्नान की हुई और धुले हुए वस्त्र पहनेहुए शुद्ध हो, उसने भोजनशालाको अच्छीप्रकारसे धोया हो, फलादि खानेके पदार्थ धोकर रखे हों, अशुद्ध वस्त्र धारण करनेवाले पुत्र भाई देवर आदि किसी भी मनुष्यका स्पर्श नहीं किया हो, गोवरसे घरका आंगण पवित्र किया हो, रसोईघरमें एक शुद्ध स्त्री या पुरुषको बिल्ली कुत्ता मूसक आदिकी रक्षाकेलिये रखा हो (चौका सूना न हो), चौकामें शुद्ध वर्तन और पाकके वर्तन निर्जंतुक स्थानमें करीनेसे रखे हों। एकांत मिथ्यादृष्टि मूर्ख मनुष्योंके प्रवेशद्वारा स्पर्श नहीं होता हो, बकरा आदि पशुओंका चौकामें प्रवेश नहीं होता हो ऐसे पवित्र घरमें श्रीअरहंतदेवके समान मुनीश्वरोंकी पूजा (दान) अनेकप्रकारके उत्साहके साथ भव्यजन करते हैं।

दानशाला अत्यंत साफ और उज्वल होनी चाहिये जिसमें प्रकाश व धूप रहती हो, जिसमें धूआं (धूम्र) नहीं रहता हो यही बात आचार्य बतलाते हैं। यही अर्थ निम्न अर्ध श्लोकमें है।

अनंधकारे सवितातिरम्ये, प्यधूम्रगेहे मुनये च दद्यात्।
(दानशासन)

दानशालामें (चौकामें) चंदोवा अवश्य ही रहना चाहिये, चूला-की राख नित्यप्रति निकाल कर चूलाको धोना और पोतना चाहिये। चौकामें मच्छर, चींटी आदि जंतुओंका उपद्रव नहीं होना चाहिये इसी-प्रकार मूषक चिड़ियां आदि पंचेन्द्रिय जीवोंका उपद्रव नहीं होना चाहिये।

चौकाकी शुद्धिकेलिये दो तीन बातोंका खास ध्यान रखना चाहिये। वह यह है किः—

चांडालसूतकीयुक्ते नान्नं तत्रोचितं गुरोः।
फुलिंगदग्धपटवत् राजयोग्यं न सर्वथा॥*

भावार्थ—चौकाके आस पास सूतकी स्त्री (सूतक पातकवाली स्त्री) चांडाल आदि नीचजन संपर्क नहीं रहना चाहिये क्योंकि

---

* सूतिकोच्छिष्टविण्मूत्रे नीचसंवेष्टितस्थले।
कृते सत्पात्रदानेस्मिन्स्युराधिव्याधयोधिकाः॥

भावार्थ—सूतकी स्त्रीका उच्छिष्ट मलमूत्र और नीच मनुष्योंका संपर्क जिस गृहके चौकाके आस पास रहता है उस गृहमें दान देनेसे आधि व्याधि होती है।

यत्यादिमुक्त्यगारेस्मिन् विण्मूत्रलेशोत्थिते।
रोगः पुण्यवतो मृत्युरपुण्यस्य शिशोर्भवेत्॥

भावार्थ—मुनिजनोंको दान देनेमें योग्य चौका मलमूत्र हाड़ आदि अपवित्र वस्तुओंसे मलिन हो तो पुण्यवान मनुष्यको रोग होता है और पुण्य रहित मनुष्यकी मृत्यु होती है।

..का सहवास अग्निसे जलेहुए वस्त्रके समान सेवन करनेकेलिये अयोग्य है। मुनिजन ऐसे स्थानपर आहार ग्रहण नहीं करते हैं। यह सब उपलक्षण है चौकाके पास रजस्वला-सूतक पातकवाली स्त्री-चांडालादि नीच मनुष्य मरणासन्न रोगी और पशुशाला नहीं रहनी चाहिये।

दाताके गृहके वाहरके मूल दरवाजेपर सांथिया आदि मंगलचिह्न अवश्य होना चाहिये जिससे पात्रको यह वोध हो जाय कि इस दाताके सूतक पातक आदि अमंगल कार्य नहीं है। चौक पूरना चाहिये (गृहके आंगनमें सांथिया आदि मंगलीक चौक पूरना चाहिये)

चौकामें वर्तन पानीके भाजन साफ धुले हुये उज्वल रहना चाहिये, पानी उत्तम प्रकारसे प्रासुक होना चाहिये, समस्त वर्तन ढके हुए रहने चाहिये, दाल भात शाक आदिके वर्त्तन चूलाके पासही अग्निके कोयला या गरम राखपर रहना चाहिये पटा चौकी धुले हुए होना चाहिये।

कांसेके वर्तनोंसे दान नहीं देना चाहिये क्योंकि उनकी शुद्धि ठीक नहीं होती है। कांसेके पात्रको नीच मनुष्यका स्पर्श होनेसे अग्निमें तपाना पड़ता है परंतु कांसेके पात्रको तपाना कठिन है इसलिये थाली कटोरी गिलास प्याला आदि पीतल आदि धातुके होना चाहिये।

चौकामें छन्ना उज्वल और धुले हुए रहना चाहिये। चौकामें समस्त द्रव्य धुली हुई और शुद्ध होना चाहिये। चौकामें जंतुरहित ईंधन कार्यमें लाना चाहिये। चौका पानीसे सर्वत्र भींगा हुआ नहीं रखना चाहिये। यह सब क्षेत्रविशुद्धि है। यह विशुद्धि दाता अपने लियेही करता है पात्रकेलिये नहीं। शुद्धतापूर्वक भोजन करना यह श्रावक

का मुख्य धर्म है। जो श्रावक शुद्धता पूर्वक भोजन नहीं करता है। वह सत्यार्थरूपसे श्रावक ही नहीं है। यही आचार्योंने बतलाया है।

क्षेत्रादिसर्ववस्तूनां संस्कारं कुर्वते जनाः।
तत्तदर्थं न कुर्वन्ति तत्फलप्राप्तहेतवे॥

भावार्थ—क्षेत्रशुद्धि और चौकाकी समस्त सामग्रीकी शुद्धि गृहस्थ स्वयमेव ही अपने लिये करते हैं। वे पात्रके लिये कुछ भी नहीं करते हैं क्योंकि शुद्धतापूर्वक भोजन करना यह गृहस्थका मुख्य धर्म है और इसीसे उसको पात्र और सद्धर्मकी प्राप्ति होती है।

देशशुद्धि।

दानकेलिये जिसप्रकार क्षेत्रशुद्धि आवश्यक है उसीप्रकार देशशुद्धि भी आवश्यक ही है। देशमें जब आवहवा बिगड़ जाती है अथवा पानी खराब होजाता है तब वात पित्त कुपित होकर रोगोत्पादक हो जाते हैं। ऐसे समय दाताको अधिक सावधानी रखनी पड़ती है। ऐसे देशमें ऐसे पदार्थ दानमें दिये जाते हैं जिससे कि पात्रके वात पित्त कुपित नहीं हों। गंदी आवहवाका असर पात्रपर न हो।

कभी-कभी देशमें उपद्रव भी उत्पन्न होजाते हैं उस समय दाता-को अधिक विवेककी सावधानी रखनी पड़ती है कि जिससे मुनि आदि पात्र दान ग्रहणकर निराकुल स्थानमें सुरक्षित रहता है।

यही उपदेश देशशुद्धिके लिये अनेक स्थलोंपर बतलाया है।

देशप्रवृत्तिसंक्रुद्धदोषोपशमकारणम्।
दोषरोगहराहारो देयात्तद्देशवेदिभिः॥

भावार्थ—भिन्न-भिन्न प्रान्तोंकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्ति होती है। कोई देश अधिक ऊष्म (गर्म) होनेसे सदैव पित्तको कुपित करनेवाला होता है। कोई देश अधिक वात प्रधान होता है ऐसे भिन्न देशोंकी प्रवृत्तिसे होनेवाले दोष और ज्वरादिक उपद्रवोंको उपशमन करनेवाला आहार आदि देना सो देशशुद्धि है। (दानशासन)

कभी-कभी देशकी प्रवृत्तिसे भिन्न-भिन्न प्रकारके उपद्रव हो जाते हैं उनका उपशम बाह्य उपचारसे (मालिस, मर्दन, शीत आदि निराकरण) करना पड़ता है। इसलिये दानकी प्रवृत्ति करनेवाले भव्यात्मा पुरुषों को देशशुद्धिका अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

कालशुद्धि।

श्रेष्ठ दानकी प्रवृत्तिकेलिये कालशुद्धिका विचार दाताको अवश्य ही रखना चाहिये। कालशुद्धि रखनेकेलिये परम विवेककी आवश्यकता है। प्राचीनकालमें (चतुर्थ काल) कालशुद्धिका विचार उत्तमप्रकारसे किया जाता था।

कालचक्रका असर प्रत्येक जीवपर नियमसे होता है। यह कालचक्रका ही प्रभाव है कि आज अवधिज्ञानी मुनि नहीं हैं। ऋद्धिधारक या मनःपर्ययज्ञानके धारक मुनिगण नहीं हैं। इसी प्रकार कालचक्रके प्रभावसे श्रावकगणभी धर्मसे पराङ्मुख, क्रियाविहीन, सदाचाररहित, संस्काररहित, दरिद्र, कुशिक्षित मलिनपरिणामी, विषयकषायोंकी तीव्रतासे मदोद्धत, विवेकशून्य, कर्तव्यविहीन और हिताहितके विचारोंसे सर्वथा रहित हो रहे हैं।

कालचक्रके प्रभावसे जीवोंका हृदय मायाचारसे परिपूर्ण हो जाता है और इस समय हो रहा है। धर्मके पवित्र अंकुर सरल और शुद्ध हृदयमें ही उत्पन्न होते हैं। कुशिक्षा और कालके प्रभावसे श्रावकगणोंके हृदयकी सरलता व शुद्धता प्रायः नष्ट हो चुकी है। तो भी इस विकराल पंचमकालमें कभी-कभी कालचक्रके प्रभावसे ही महान् दिव्य आत्माका अवतार होता है और ऐसे अवतार पंचम कालके अन्ततक अवश्य ही होते रहेंगे। जिनसे श्रावकगणोंकी लुप्त क्रियाएं पुनः जाग्रत होती रहेंगी। सद्धर्मको प्रवृत्ति सदाचार पूर्वक नियमितप्रकारसे बनी रहेगी।

कालचक्रके कारण ऊष्मा, शीत, वर्षा आदिकी बाधा कभी कभी विशेषरूपसे हो जाती है। ऐसे समय कालशुद्धिके विचार करनेवाले दाताको समय देखकर और पूर्ण विचारकर दान देना चाहिये।

गर्म ऋतुमें यदि गर्म पदार्थोंका दान दिया जाय तो विपरीत फलको प्रकट करता है। इसीप्रकार शीत समय अति ठंडा पदार्थका दान दिया जाय तो भी विपरीत फलको प्रकट करेगा। इसलिये दाताको कालशुद्धिका विवेक रख कर दान देना चाहिये।

कालसंक्रुद्धदेशोत्थरोगोपशमकारणम्।
कालदोपहराहारो देयस्तत्कालवेदिभिः।

(दानशासन)

भावार्थ—काल दोपसे कुपित होनेवाले पित्त कफ आदि दोपोंका विचार कर दोपोपशमन करनेवाले पदार्थोंका आहारदान देना चाहिये।

य: सर्वदेशकालेषु यद्यदाश्रित्य वर्तनं ।
वर्तते तदनुक्रम्य हेयं हित्वात्र सर्वदा ॥
हातुं न शक्यं यत्कर्म न वर्ज्यं योगदोषवत् ।
सद्भक्तिरकषायः स्यात्सुकृतिर्नैवदोषभाक् ॥

(दानशासन)

भावार्थ—जो जो व्यवहार देश कालकी प्रवृत्तिको लेकर जिस देश और जिस कालमें होता हो वही व्यवहार दानक्रियामें करना चाहिये। दोषोत्पादक अयोग्य पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये, जिनका त्याग करना अशक्य है, उनके त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि सद्भक्ति कषायरहित होती है। दाता अशक्यानुष्ठानमें कभी दोषका भागी नहीं होता है।

इसलिये समयके सेवनयोग्य शुद्ध पदार्थोंको देना चाहिये, मलिन और अयोग्य पदार्थोंका उपयोग नहीं करना चाहिये तथा आगम-वर्ज्य पदार्थोंको नहीं देना चाहिये।

सूर्यादिग्रहण, संक्रांति, भूकम्प, धूम्रावगाढ, मेघाच्छन्न, सामायिक-काल, अनिष्टकाल, विद्रोहकाल, अकाल, उपद्रवकाल, सूतककाल, निंद्य-काल आदि काल व अयोग्य समयको विचारकर दान देना चाहिये। असमयमें दान देना आगमविरुद्ध है।

द्रव्यशुद्धि।

द्रव्यशुद्धिका विचार दाताको अवश्य ही करना चाहिये। सब शुद्धियोंमें मुख्य शुद्धि यह द्रव्यशुद्धि है। द्रव्यशुद्धिका विशेष वर्णन

भगवतीआराधना मूलाचार आदि ग्रन्थोंमें स्पष्ट है वह सब यहांपर लिखनेको आवश्यकता नहीं है किन्तु कितनेही आवश्यक बातोंका उल्लेख करना है।

द्रव्य देने योग्य पदार्थको कहते हैं। जो दानमें वस्तु दी जाती है वह सब द्रव्य कहलाती है। दानके चार भेद हैं आहारदान, औषधदान, शास्त्रदान, और वसतिकादान। ये चारों ही दान निर्दोष होने चाहिये। उद्दिष्ट आदि दोषोंसे रहित होने चाहिये।

द्रव्यशुद्धिमें कितनी वाह्य बातें भी परम उपयोगी हैं उनका ज्ञान लेना आवश्यक है इसलिये सबसे प्रथम उनका ही विचार करते हैं।

आहारदानकी समस्त वस्तुएं शोधित होनी चाहिये। अशोधित किसी भी वस्तुका उपयोग नहीं करना चाहिये उसीप्रकार समस्त वस्तु. मर्यादापूर्वक क्रियापूर्वक और विधिपूर्वक शुद्ध होनी चाहिये।

पानी मर्यादापूर्वक योग्य विधिसे छना होना चाहिये। पानी उत्तम श्रावकको स्वयं अपने हाथसे भरकर लाना चाहिये और दुहरे वस्त्र (छन्ना) में छानकर जीवानी जलके स्थलपर पहुंचा देना चाहिये।

दूध आटा मसाला घी शक्कर आदि भक्ष्य पदार्थ मर्यादाके भीतर और निर्जंतुक होने चाहिये।

यद्यपि समस्त पदार्थोंकी मर्यादाका आर्ष ग्रन्थ अभी तक नहीं उपलब्ध हुआ है, कुछ भट्टारकोंके ग्रन्थ या क्रियाकोष भाषाके ग्रंथ प्राप्त हैं। यद्यपि उनसे अधिक भागमें विवाद रहता है तो भी उन ग्रंथोंकी आज्ञापूर्वक मर्यादा रखनी चाहिये।

णह रोम जंतु अट्ठी कण कुंडय पूयि चम्म रुहिर मंसाणि
वीय फल कंद मूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ॥६५॥*

मूलाचार ३७६ पत्र

भावार्थ—१ नख २ रोम (वाल) ३ जंतु ४ हाड़ ५ कण (गेहूं जव आदिका भूषा) ६ कुडंम (चावलकी कुटकी कंकरी मिश्रित) ७ पीव ८ चाम ९ रुधिर १० मांस ११ बीज १२ फल (जामुन आदि साबूत फल) १३ कंद (अदरख आदि) १४ मूल (कंदमिश्रित गाजर आदिका डांडा मूल कहलाता है) ये चौदहप्रकारके दोष जो अंतरायके साक्षात् कारण हैं द्रव्यशुद्धिकेलिये दाताको शोधन करना चाहिये।

यद्यपि इन मलोंका शोधन पात्र भी करता है तथापि दाताको विशेष सावधानी रखनी चाहिये क्योंकि—रसोईमें असावधानी रखनेसे प्रत्येक द्रव्यमें (केश) बीज आदि अन्तरायके उत्पादक दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिससे पात्रदानमें अन्तराय हो जाता है।

इन चौदह दोषमें कितने ही ऐसे भयंकर दोष हैं कि जिनसे पात्रको प्रायश्चित्त और विशेष शुद्धि करनी पड़ती है तथा दाताको भी दानमें अन्तराय होनेसे क्षोभका कारण एवं अशुचिका कारण होना पड़ता है।

विद्धं विवर्णं विरसं धिग्गंध—मसात्म्यमक्लिन्नमपक्वमन्नं।
खिन्नं सकशंककमजीवपक्वं नेत्राप्रियं यन्मुनये न दद्यात् ॥

---

* बीजफलकंदमूलं कंदनशंबूकमस्थिनखरोमांचं।
जत्वंजनपूयमांसं भवति दोषाश्चतुर्दशाहारे ॥

भावार्थ--विद्ध (सड़ा घुना) विवर्ण (वीभत्स) रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, सौम्यतारहित, क्लेदतारहित, अपक्व अन्न, देरमें पचनेवाला और दुखकारी अन्न, संधूक अन्न, अत्यन्त पक्का अन्न और नेत्रोंको अप्रिय अन्न मुनिको नहीं देना चाहिये।

मिथ्यादृष्टिस्पृष्टमुच्छिष्टमेतन्-
नीचाख्यातं योगिने नैव दद्यात् ॥

(दानशासन)

भावार्थ---मिथ्यादृष्टी लोगोंसे स्पर्श कियाहुआ पक्व अन्न वह सब उच्छिष्ट अन्न ही कहलाता है। उसको नीच अन्न कहते हैं। वह योगियोंको नहीं देना चाहिये।

पुनरुष्णीकृतं सर्वं क्षीराहारोदकादिकं ।
सर्वरुग्जन्महेतुः स्याद्विषवज्जीवितापहं ॥

(दानशासन)

भावार्थ---दूध-आहार-चावल आदि सर्व द्रव्य पुनः दुबारा गर्म करनेसे रोगके कारण हैं, विषके समान दुखदायक होते हैं।

दत्तं संकल्पनीचानां यैर्भाण्डैः पक्वमोदनं ।
तैर्भाण्डैः पक्वमशनं न देयं यतये बुधैः ॥

भावार्थ--जिस वर्त्तनमें नीच मनुष्योंने अन्न बनाया हो उस वर्तनमें अन्न पकाकर दानमें नहीं देना चाहिये। अथवा जिस वर्त्तनके अन्नका संकल्प नीच लोगोंके लिये किया हो वह पात्रको नहीं देना चाहिये।

अव्रतिकदत्तभुक्तिः व्रतभंगे च पुण्यभंगं स्यात् ।
दास्या दत्तं कुर्यात् दातुः पुण्यस्य सद्व्रतेर्भगः ॥ *

(दानशासन)

भावार्थ—जिसके मूलगुणरूप भी व्रत नहीं है ऐसे अव्रती पुरुषसे बनवाकर आहारदान देनेसे दाताका व्रतभंग होता है और पुण्यकी हानि होती है। जो दासीसे बनवाकर आहारदान दिया तो भी दाताके पुण्यका नाश और व्रतोंका नाश होता है।

भावार्थ—क्रियानभिज्ञ अव्रतीपुरुष अथवा दासीने आहार बनाया हो और वही आहार घरका मालिक दाता पात्रको आहार पानी शुद्ध है ऐसा कहकर दान देवे तो व्रतभंग और पुण्यका नाश होगा।

इसलिये आहारादि समस्त द्रव्य मूलगुणधारक क्रियाकुशल श्रावकसे कराने चाहिये।

नीचोत्तमविमिश्रे च पक्वमन्नं विमिश्रवत् ।
कुलीननीचयोर्मिश्रे च दातुः कुलनाशनं ॥

भावार्थ—यदि आहार नीच और उत्तम पुरुष दोनोंने मिलकर बनाया हो, अथवा नीच और कुलीन पुरुषने मिलकर बनाया हो ऐसा अन्न उत्तम दाताको देनेसे दाताके कुलका नाश होता है। (दानशासन)

---

* अव्रतिकपक्वमन्नं यो दत्ते तस्य पुण्यहानिः स्यात् ।
संस्कृतशालिक्षेत्रे क्षुधाभिजनस्य बीजवपनं वा ॥

भावार्थ—अव्रती पुरुषसे आहार बनवाकर दान देनेसे दाताका पुण्य नाश होता है जैसे संस्कारित क्षेत्रमें भूखे मनुष्यसे बीज बोया जाय तो वह बीज बोनेके प्रथम ही बीजको खा लेता है।

लाटीसंहितामें बतलाया है कि विधर्मी समस्त क्रियाओंका जानकार है तो भी उसके हाथसे बनाया आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है और जैनधर्मका पालक उच्चकुलीन क्रियायोंका जाननेवाला नहीं है तो उसके भी हाथका आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है। यथा—

सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा।
शोधितं पाचितं चापि नाहरेद् व्रतरक्षकः॥

मिथ्यादृष्टि ब्राह्मण समस्त जैनक्रिया और चौकाकी विधि पानी छाननेकी विधि आदिको आगमके अनुकूल भी जानता हो परन्तु जैनधर्म नहीं पालता हो, और जैनकुलोत्पन्न जैनी आगमके अनुसार क्रिया नहीं जानता हो, क्रियामें शिथिल या मलिनाचारी हो तो ऐसे मनुष्यके हाथसे बनाया हुआ अन्न दान देने योग्य नहीं है।

इसलिये द्रव्यकी शुद्धि क्रिया जाननेवालेसे ही होती है। दानकी समस्त क्रियाएं दाताको स्वयं अपने हाथसे* करना चाहिये। प्राचीन कालमें राजा महाराजा और महान् पुण्यशाली स्त्री पुरुष स्वयमेव सब दानकी क्रिया अपने हाथसे करते थे।

---

* धर्मेषु स्वामिसेवायां पुत्रोत्पत्तौ श्रुतोद्यमे।
भैषज्ये भोजने दाने प्रतिहस्तं न कारयेत्॥

भावार्थ—धर्म और स्वामिसेवा, पुत्रकी उत्पति, विद्याभ्यास, औषधपान, भोजन, और दान दूसरोंके हाथसे नहीं कराना चाहिये।

उद्दिष्ट-विचार।

जिनागममें उद्दिष्ट आहारका लेना और उद्दिष्ट आहारका देना निषिद्ध बतलाया है। उद्दिष्ट आहारके देनेमें महान् दोष होता है।

उद्दिष्टका अर्थ सामान्यरूपसे लोगोंने यह समझ रखा है कि— "पात्रके लिये आहारादिक दानयोग्य वस्तु बनाई जावे वह उद्दिष्ट है।" जैसे कितने ही भाई कहते हैं कि आज हमारे गांवमें मुनीश्वर आये हैं और उनकेलिये आज हमने आहार बनाया है, इसप्रकारके बनाये हुए आहारका दान करनेसे उद्दिष्ट दोष होता है।

कितने ही भाई यह भी कहते हैं कि हम नीरस भोजन नहीं करते हैं, शुद्ध भोजन नहीं करते हैं, भोजनके साथ दुग्ध फलादिक नहीं लेते हैं, न गर्म पानी पीते हैं, न इतनी शुद्धिके साथ बनाते हैं। यह इतना आरम्भ और यह सब क्रिया मुनि आदि पात्रकेलिये ही की जाती है इसलिये यह सब उद्दिष्ट आहार है।

इसप्रकार उद्दिष्टके अर्थमें अनेकप्रकारके विचार और अनेक प्रकारकी तर्क होती हैं। इसीलिये कितने ही भाई कहते हैं कि बाबा! इस समय न तो शुद्ध श्रावक है, न शुद्ध रसोई बनती है और न उद्दिष्ट बिना आहार दिया जाता है। यह समय मुनियोंके योग्य नहीं है। इस समय जब प्रतिमाधारी श्रावक ही नहीं हो सक्ता है तब मुनि कैसे हो सकते हैं?

इत्यादिक विचारोंसे उद्दिष्ट शब्दका अर्थ अत्यन्त जटिल हो रहा है। अस्तु कुछ भी हो, इस विषयमें प्रकाशका डालना आवश्यक है।

सबसे प्रथम यह जानना आवश्यक है कि उद्दिष्टका त्यागी गृहस्थ दाता है या पात्र।

जिनागममें उद्दिष्टका त्याग पात्रको बतलाया है। एकादश प्रतिमासे आरम्भकर जितने पात्र हैं उन सबके उद्दिष्ट आहारका त्याग होता है। यह उद्दिष्ट त्याग आहारादिक परवस्तुके ग्रहण करनेमें राग-द्वेष और मोहादिक भावोंको घटानेकेलिये किया जाता है। यदि उद्दिष्ट पूर्वक आहार लिया जाय तो पात्रके मनमें अनेकप्रकारका हर्ष और विषाद तथा अनेकप्रकारके आहारसम्बन्धी संकल्प विकल्प अहो-रात्रि होते रहते हैं। ऐसे संकल्प विकल्पोंको दूर करनेकेलिये और संपूर्णप्रकार वीतराग भावोंको प्रकट करनेकेलिये उद्दिष्ट आहारका त्याग किया जाता है। इसीलिये परम वीतरागी मुनियोंको अनु-द्दिष्ट आहार ग्रहण करते हुये भी सातवां गुणस्थान होता है। यह सब वीतराग भावोंकी परपदार्थोंसे सर्वथा स्वलेशरहित विचित्र परिणती है।

परपदार्थोंसे रागादिक भाव घटानेकेलिये जिनागममें अभ्यास-पूर्वक क्रम बतलाया है। पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा दर्शनादिक प्रतिमा-धारक पात्रके भोगोपभोग पदार्थोंसे अधिक भागमें मोह कम हो जाता है वह मर्यादापूर्वक सेवन करने योग्य पदार्थोंको ही ग्रहण करता है। उसके आगे गृहविरत सातवीं आठवीं नवमीं प्रतिमाधारक निमंत्रणपूर्वक आहार ग्रहण करनेसे उसके परिणामोंमें आहारसम्बन्धी संकल्प विकल्प अधिकांशोंमें न्यून हो जाते हैं क्योंकि वैराग्य भाव और निर्ममत्व परि-णामोंके कारण राग द्वेषकी मात्रा न्यूनरूप होती है। गृहविरत श्रावक को दूसरेके घरमें निमंत्रणपूर्वक भोजनकी प्रवृत्ति होनेसे प्रकृतिविरुद्ध

और मनकी इच्छाके अनुकूल सरस या कोई खास पदार्थ नहीं मिलनेसे रागभाव अवश्य ही न्यून हो जाते हैं। दशमी प्रतिमाधारकके आहार-सम्बन्धी संकल्प विकल्प एकदम कम हो जाते हैं। उसको जो आहारके समय बुलाता है उसीके साथ जाना पड़ता है। उसके घर अच्छी अच्छी वस्तुओंका योग है, इत्यादि प्रकारके संकल्प विकल्प सब छूट जाते हैं।

उद्दिष्टत्यागीके तो सर्वप्रकारके संकल्प विकल्पोंका सर्वप्रकारसे अभाव हो हो जाता है क्योंकि उनके व्रतपरिसंख्यानके योग्य चर्या जिस घरमें मिल जावे वहींपर वह सिंहवृत्तिसे जाता है। दश घरमें किसके घर जायगा वा नहीं जायगा यह उसका व्रतपरिसंख्यान नियमके कारण सुनिश्चितरूपसे कहा नहीं जाता है न ऐसी धारणा ही होती है कि मैं आज अमुक सेठके घर ही जाऊंगा जहांपर समस्त भोग पदार्थ उत्तम हों। इसलिये उद्दिष्टत्यागीके मन वचन कायासे आहारसम्बन्धी संकल्प विकल्प या रागद्वेषजनित परिणामोंका सर्वथा अभाव ही हो जाता है।

उद्दिष्ट आहारका त्याग पात्रके होता है न कि दाताके, इसलिये उद्दिष्ट शब्दके अर्थकी वाच्यतामें बहुत ही भेद है, उद्दिष्ट शब्दके अर्थके विषयमें—"यह आहार मैंने मुनियोंकेलिये बनाया है, इतना समारंभ मैंने मुनियोंके लिये ही किया है, ये अनेकप्रकारकी संयोजना (तंथारियां) मैंने मुनियोंके लिये की हैं" इत्यादि प्रकार प्रकारके प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सक्ते हैं। जो लोग उद्दिष्ट शब्दका अर्थ नहीं है उनको या आगम अनुसार उद्दिष्ट शब्दका अर्थ नहीं समझते हैं ही उद्दिष्ट शब्दके अर्थमें भ्रम होनेसे अनेकप्रकारकी तर्कणायें होती हैं।

उद्दिष्ट शब्दका अर्थ

* और *

उद्दिष्टका त्याग किसको होता है।

स्वैनिर्मितं त्रिधा येन कारितोऽनुमतः कृतः।
नाहारो गृह्यते पुंसा त्यक्तोद्दिष्टः स भण्यते॥

सुभाषितरत्नसंदोह छपा हुआ श्लोक ८४३। पत्र ६६

भावार्थ—जो महान् दिव्य आत्मा अपने मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे अपनेलिये उद्देश्य कर स्वयं आहार बनवा कर उस (अपनेलिये बनवायेहुये आहारको) आहारको ग्रहण नहीं करता है वह उद्दिष्टत्यागी कहा जाता है।

क्योंकि मुनिगण उद्दिष्टके त्यागी होते हैं। उद्दिष्टका अर्थ सकलकीर्त्ति आचार्यने यह बतलाया है कि—

कृतादिभिर्महादोषैस्त्यक्ताहारावलोकिनः ;

(प्रश्नोत्तरश्रावकाचार)

भावार्थ—मुनिगण अपनेलिये आहार बनानेकेलिये कृत कारित और अनुमोदना नहीं करते हैं। इसीलिये उद्दिष्टके त्यागो वे कहे जाते हैं।

उद्दिष्टका विशेष खुलासा

जो उद्दिष्टत्यागी श्रावकोंको अपनेलिये आहार बनानेकेलिये नहीं कहता है कि हे श्रावक! आज तू मेरेलिये आहार बना, मैं तेरे ही घर

---

१ स्वेन निमित्तं स्वनिमित्तं।

आज आहार ग्रहण करूंगा। इसीप्रकार अपने शरीरसे ऐसे इशारे (इंगित चेष्टा) नहीं करता है कि आज मेरेलिये अमुक आहार बना मैं तेरे घरपर ही आऊंगा। इसीप्रकार मनमें भी इसप्रकारके विचार नहीं रखता है कि अमुक सेठके घरपर अमुकप्रकारका आज उत्तम आहार बनवाना है सो आज मैं वही ग्रहण करूंगा।

इसीप्रकार दूसरोंसे कहकर अपनेलिये आहार बनानेकी प्रेरणा करना और फिर उसो (अपनेलिये दूसरोंसे कहकर बनवाये हुए खास आहारको) ग्रहण करना, अथवा अपनी प्रकृतिके योग्य आहार बनवाकर अनुमोदना करना कि तूने मेरेलिये आज आहारको बनाया सो बहुत ही अच्छा किया।

इसप्रकार नवकोटिसे जो अपने लिये स्वयं आहार बनवाकर उस आहारको ग्रहण नहीं करता है वह उद्दिष्टत्यागी है।

इसप्रकारके खुलासासे उद्दिष्टका यह अभिप्राय सिद्ध होता है कि उद्दिष्टत्यागी अपने लिये स्वयं अपने मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे आहार बनानेकेलिये किसी भी श्रावकको प्रेरणा नहीं करता है, न कहता है और न कहकर बनवाये हुए आहारकी अनुमोदना ही करता है। उसके आहारसम्बन्धी इन सब संकल्पविकल्पोंका मन वचन काय और कृत कारितानुमोदनासे त्याग होता है।

जो लोग यह समझते हैं कि "अमुक श्रावकने मुनिकेलिये रसोई बनाई है, यह सब मुनिकेलिये ही समारंभ किया है" सो इसप्रकारका अर्थ उद्दिष्ट शब्दका समझना ठीक नहीं है। क्योंकि मुनिगण किसीको भी अपने मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदनासे यह नहीं

कहते हैं कि तू मेरेलिये आहार बना मैं तेरे ही घरपर आहार करूंगा।

मुनिगणोंका यह नियम नहीं रहता है कि मेरा आज आहार अमुक ही घरपर होगा। जिस घरपर व्रतपरिसंख्यान योग्य रूपमें मिल जायगा वहींपर आहार होगा। एक श्रावकने मुनियोंकेलिये आहार बनाया और वहांपर मुनीश्वरका व्रतपरिसंख्यान नहीं मिलनेसे आहार नहीं हुआ तो यह कैसे माना जाय कि उसने मुनिकेलिये ही आहार बनाया था। जो मुनिकेलिये बनाया होता तो मुनिश्वरका आहार वहांपर होता ही। सो ऐसा तो हुआ नहीं। इसलिये मैंने मुनीश्वरोंके-लिये आहार बनाया है यह मिथ्या कल्पना है।

श्रावकका मुख्य कर्त्तव्य ही यह है कि पात्रको अपने घरपर आया हुआ देखकर भक्तिपूर्वक आहार देवे। जो श्रावक दान देना अपना कर्त्तव्य नहीं मानते हैं वे वास्तविक श्रावक ही नहीं हैं क्योंकि श्रीकुंद-कुंद भगवानने बतलाया है कि—

पूजा दानं मुख्यो, न श्रावकस्तेन विना।

पटप्राभृतसंग्रहमें छपा हुआ रयणसार श्लोक

"श्रावकका कर्तव्य ही यही है कि वह पूजा और दान करें। जो श्रावक पूजा और दान नहीं करता है वह श्रावक ही नहीं है, जैनी नहीं है। जो दान नहीं देता है वह नाममात्रसे जैन है परन्तु मिथ्यादृष्टी है।"

श्रावकोंको पूजा और दानसे ही पुण्य प्राप्त होता है। उनकेलिये सुकृती (पुण्यसंचय करनेका) अन्य मार्ग ही नहीं है इसलिये श्रावक-गण भक्तिसे दानको अपना खास कर्त्तव्य समझ कर प्रदान करते हैं। फिर यह कैसे माना जाय कि मैंने मुनियोंकेलिये ही आहार बनाया है।

जो मुनियोंकेलिये ही आहार वनाया हुआ समझा जावे तो फिर श्रावक-का कर्त्तव्य क्या है ?

यदि उद्दिष्ट शब्दकी उक्त व्याख्या न मानी जाय तो आगम और व्यवहारके लोपकी सम्भावना होगी।

उद्दिष्ट दूषण केवल एक आहारदानमें नहीं होता है किंतु समस्त चारोंप्रकारके दानोंमें उद्दिष्ट दूषण होता है। जो लोग केवल आहारदानमें तो उद्दिष्ट दूषण मानते हैं और औषधी आदि दानमें उद्दिष्टदूषण नहीं मानते हैं उनको सबसे प्रथम इस प्रकरणका विचार करना चाहिये फिर उद्दिष्टका त्याग किसको होता है विचार करना चाहिये।

उद्दिष्ट कौन २ से पदार्थोंमें माना है

भाषाके ग्रंथ पढ़नेसे वहुतसे मनुष्योंकी यह धारणा हो रही है कि उद्दिष्टका दोष एकमात्र आहारदानमें ही माना है अन्य औषधी वसति-का उपकरण आदि पदार्थोंके ग्रहण करनेमें मुनिगणको उद्दिष्ट दोष नहीं होता है।

इसप्रकारकी मान्यता केवल भूल भरीहुई है। शास्त्रके रहस्यको नहीं समझनेवाले भाइयोंकी ऐसी मान्यता अज्ञानवश हो जाती है। परंतु आचार्योंने औषधी, वसतिका और उपकरण आदि पदार्थोंको उद्दिष्टादि दोषोंसे रहित ही ग्रहण करनेकी आज्ञा वतलाई है।

पिंडं सेज्जं उवधिं उग्गमउप्पायणेसणादीहिं।
चारित्तरक्खणहं सोधणयं होदि सुचरित्तं ॥

टीका—पिंडं भिक्षां, शय्यां वसत्यादिकं, उपधिं ज्ञानोपकरणं

शौचोपकरणं चेति उद्गमोत्पादनैषणादिभ्यो दोषेभ्यः शोधयन् चारित्ररक्षणार्थं सुचरित्रो भवति। अथवा चारित्ररक्षणार्थं पिंड-मुपधिं शय्यां च शोधयतः सुचरित्रं भवति शुद्धिश्च तेषामुद्गमो-त्पादनैषणादोषाणामभाव इति अथवा पिंडादीनां उद्गमादिदोषेभ्यः शोधनं यच्चारित्ररक्षणार्थं तत्सुचरित्रं भवतीति।

भावार्थ—आहार पानी और औषधीको पिंड कहते हैं। शय्या वसतिका, मकान, मठ, आश्रम, चटाई, घास आदिको शय्या कहते हैं। उपकरण—शास्त्र पीछी कमंडलू आदि, पदार्थोंको उपकरण कहते हैं। उपर्युक्त संपूर्ण पदार्थ उद्गम उत्पादन और उद्दिष्ट आदि दोषोंसे रहित ही ग्रहण करना चाहिये। तब ही मुनिगणोंके चारित्रकी धारणा होती है और शुद्धि होती है।

अथवा उद्दिष्ट आदि दोषोंसे रहित पिंड-शय्या—उपकरण आदि पदार्थ ग्रहण करनेवाला मुनि ही चारित्र और शुद्धिका धारक है।

मूलाचार उत्तर भाग समाचार विभाग

यही बात अन्यत्र मूलाचार ग्रंथमें ही बतलाई है।

पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भवणेसु हवे समणपोल्लो॥ (मूलाचार)

भावार्थ—जो साधुपिंड-आहारपानी, उपधि-शास्त्र पीछी कमंडलु, शय्या-वसतिका घास चटाई आदि पदार्थोंको उद्गम उद्दिष्टादि दोष सहित ग्रहण करता है वह अठाईस मूलगुणसे रहित है। वह मूल स्थान (श्रावकपद) को प्राप्त हो जाता है वह लोकमें (श्रमणोंमें तुच्छ) यतिधर्मविहीन समझा जाता है।

फासुगदाणं फासुग उवधिं तह दोविअत्तसोधीए ।
जो देदि जोय गिण्हदि दोण्हं वि महाफ्फलं होई ॥

भावार्थ—जो दाता प्रासुक दान (आहारदान) और प्रासुक उपधि (वसतिका तृणशय्या आदि) अपने हाथसे शोध कर देता है तथा जो पात्र वा मुनि ऐसा आहारदान वा उपधि ग्रहण करता है उन दोनोंको दाता और पात्र दोनोंको महा फल प्राप्त होता है।

इसलिये शय्या पिंड उपकरण आदि समस्त वस्तुऐं उद्दिष्ट दोप रहित ही दो जाती हैं, और पात्रके ही शय्या पिंड व उपकरण आदि उद्दिष्ट पदार्थोंका त्याग होता है। गृहस्थोंके उद्दिष्टका त्याग नहीं होता है। जो लोग केवल एक आहारको ही उद्दिष्ट दोप समझते हैं और वसतिका उपकरण आदिके दानमें उद्दिष्ट दोप नहीं मानते हैं उनको अपना भ्रम दूर कर आगमके अनुसार अपना श्रद्धान करना चाहिये।

मुनिगण खाना पीना बैठने उठने और शौचोपकरण (पीछी कमंडलु शास्त्रादि) आदि समस्त पदार्थोंके उद्दिष्टका त्याग करते हैं।

मुनिगण उद्दिष्ट रहित ही पदार्थ ग्रहण करते हैं क्योंकि उनके उद्दिष्टका त्याग है। इसलिये उद्दिष्ट त्यागकेलिये एक आहारसंबंधी पदार्थका विचार नहीं कर, दान देनेयोग्य समस्त पदार्थके साथ उद्दिष्टका विचार करना चाहिये। गृहस्थोंके उद्दिष्टका त्याग नहीं होता है। उद्दिष्टत्यागी पात्र है, दाता नहीं है।

आगममें उद्दिष्टका त्याग पात्रको ही बतलाया है। दाताको उद्दिष्टका त्याग नहीं होता है। दाता आहार, औषधी, शय्या, उपकरण आदि द्रव्योंको अपनी भक्तिवश, अपने व्रतोंके पालन करनेकेलिये

वना कर दान करता है। इसप्रकार आहार औपधादिक वस्तुओंको दाता वनाकर देनेसे वह अपना कर्तव्य पालन करता है। यदि वह इतना अपना कर्तव्य पालन नहीं करे और कर्तव्यकर्मके आरंभको उद्दिष्ट समझ कर मौन हो जावे—दानादिक पुण्यकर्मोंका परित्याग कर देवे तो समझना चाहिये कि वह जैन नहीं है, जैनकुलोत्पन्न मिथ्यादृष्टी है।

यदि गृहस्थके भी रसोई आदि दान द्रव्यके वनानेमें भी दाताको उद्दिष्ट दोषका भागी माना जाय तो दानकर्मका ही लोप हो जायगा और आगमविरुद्धता दाताको प्राप्त होगी क्योंकि पीछी कमंडलु आहार पानी आदि समस्त दानवस्तु दाता पात्रकेलिये ही तैयार करेगा और वह उद्दिष्ट समझा जाय तो दान देना ही अशक्य हो जायगा और निम्नलिखित शंकाओंका समाधान होना दुस्तर होगा तथा आगमकी मर्यादाका लोप होना अनिवार्य होगा।

शंकायें।

चतुर्थकालमें श्रावकगण गर्म पानी नहीं पीते थे और न इस समय गरम पानी पीते हैं। फिर गरम पानी करना यह भी उद्दिष्ट मानना पड़ेगा। पानी तो पात्रकेलिये ही गर्म किया जाता है, श्रावकगर्म पानीका उपयोग नहीं करते हैं। यदि 'उद्दिष्ट' शब्दका अर्थ मुनिगणके लिये करा हुआ माना जावे तो गर्म पानी भी मुनिगण ग्रहण नहीं कर सकते तो फिर आहार दानादिक किस प्रकार ग्रहण करेंगे और चतुर्थ-कालमें किसप्रकार ग्रहण करते होंगे।

औपधदान भी नहीं हो सकेगा क्योंकि एक मुनिराजको विषम दाह-का रोग है, वह रोग श्रावक दाताके तो नहीं है। दाता जो औपधि तैयार

करेगा वह केवल मुनिराजकेलिये ही तैयार करेगा तो इसप्रकार मुनिराज-केलिये तैयार की हुई औषधी दी जावे तो वह अवश्य ही उद्दिष्ट होगी। इसप्रकार औषधदानका भी अभाव होगा।

मुनिराज रसरहित आहार ग्रहण करते हैं, किसीके एक रसका त्याग होता है, किसीके सर्व रसका त्याग होता है, श्रावकगण रसरहित आहार सेवन नहीं करते हैं तो रसरहित आहारादिक मुनिराजकेलिये ही बनाया जाता है। रसरहित आहारका बनाना भी उद्दिष्ट हुआ तो चतुर्थकालमें रसरहित आहारको किस प्रकार बनाया जाता होगा और दान किसप्रकार होता होगा। यदि उद्दिष्ट शब्दकी व्याख्या मुनि-राजकेलिये बनाया हुआ पदार्थ उद्दिष्ट है तो दानका ही अभाव होगा।

वसतिकादान व शास्त्रदान भी नहीं हो सकेगा। प्राचीनकालमें मुनि-गणोंकेलिये ही गुफायें खास बनाई गई हैं, कोणूरमें एक समय ७०० मुनिराज आये और उनको बाधा होनेपर राजाने उसी समय सात सौ गुफा बनवाईं और उनमें मुनिराज रहे। ऐसी गुफायें समय समयपर श्रावकलोगोंने मुनिराजके ही लिये बनवाईं और वहांपर मुनिराजने वास किया। तो इसप्रकार ये गुफायें उद्दिष्ट दोषसे सहित होनेसे अग्राह्य समझनी चाहिये परंतु महामुनीश्वरोंने उन वसतिकाओंमें रहना स्वीकार किया था।

तेरदाल आदि स्थानोंमें सैकड़ोंकी संख्यामें वसतिकायें मुनीश्वरों-के निमित्तसे ही बनवाई गईं थीं। क्षेत्र काल और प्रकृतिकी विषमता उपस्थित होनेपर ऐसी वसतिका (गुफा) बनवाई जाती है। तेरदालके ग्राममें एक साथ हजारोंकी संख्यामें मुनिसंघ आया और वहांपर क्षेत्र व कालकी दुःसह विषमताके कारण मुनिगणोंकी रत्नत्रयमें बाधा

देख कर उसी समय वसतिकायें उन मुनीश्वरोंके उद्देश्यसे ही खास वनाई गई और उनमें मुनीश्वरोंने वास किया था। इसीप्रकार वहुतसी गुफायें उड़ीसाप्रान्तान्तर्गत श्रीखंडगिरि उदयगिरि दिगम्बर जैनक्षेत्रपर दिगम्बर मुनियोंके रहनेकेलिये ध्यान अध्ययन करनेकेलिये दिगम्बर जैन राजा खारविलने वनवाई थीं जिनका अस्तित्व आज भी मौजूद है।

शास्त्रदान भी मुनिगण अनुद्दिष्ट ग्रहण करते हैं। परंतु प्राचीन भंडारोंके ग्रन्थ देखनेसे यह पूर्ण रूपसे प्रकट होता है कि अमुक मुनीश्वरके उद्देश्य पूर्वक शास्त्र लिखे गये और उन मुनीश्वरोंको प्रदान किये गये। कितने ही ग्रन्थोंके अंतिम पृष्ठ पर यह भी लिखा देखा गया है कि यह ग्रंथ अमुक मुनीश्वरको ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमार्थ लिखा कर समर्पण किया, इसप्रकार पात्रके उद्देश्यपूर्वक लिखा हुआ शास्त्र भी उद्दिष्ट दोषसे सहित हुआ, फिर वह मुनीश्वरोंने क्यों ग्रहण किया?

पीछी कमंडलु आदि उपकरण गृहस्थकेलिये नहीं होते हैं। ये उपकरण खास पात्रको दान करनेके इरादेसे पात्रके निमित्त ही बनवाये जाते हैं और वे मुनीश्वरोंको प्रदान किये जाते हैं तो ये पीछी कमंडलु आदि उपकरण उद्दिष्ट दोषसे दूषित होनेसे मुनिजन ग्रहण नहीं कर सकते परंतु पिच्छिकायें खास उद्दिष्टपूर्वक ही वनाई जाती हैं और मुनीश्वरोंको दी जाती हैं।

इसीप्रकार आर्यिकाके वस्त्र व ऐल्लककी गेरुआ रंगकी कोपीन आर्यिका और ऐल्लकके निमित्तही उद्देश्यपूर्वक वनाई जाती है तथा दान की जाती है। उद्दिष्टत्यागी आर्यिका व ऐल्लकगण उनको किसप्रकार स्वीकार करते हैं?

उपर्युक्त हेतुओंसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि पात्रके निमित्त-से निर्माण की हुई वस्तुका परित्याग उद्दिष्टत्यागी नहीं करता है किंतु वह अपनेलिये स्वयं प्रेरित होकर मन वचन काय व कृत कारित अनु-मोदनाके द्वारा नवकोटिपूर्वक वस्तु निर्माण करने करानेका परित्याग करता है। दाता भक्तिभाव और अपने कर्त्तव्यसे पात्रके योग्य आ-हारादिक समस्त कार्य करता है और उद्दिष्टत्यागी उसको ग्रहण करते हुए भी उद्दिष्टत्यागसे दूषित नहीं होते हैं, इसलिये मुनिगणकी मन वचन कायकी भावना किसीप्रकारके दानके पदार्थोंके निर्माण करनेके आरम्भमें नहीं होती है किन्तु पात्र सर्वप्रकारके संकल्प विकल्प भावोंका परित्याग कर उद्दिष्टका त्याग करता है और दाताके द्वारा निर्माण किये हुए दानको ग्रहणकर उद्दिष्ट दूषणसे रहित होता है तथा दाताभी अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें उद्दिष्ट दोषके स्वल्प आरम्भ-को करता हुआ दानसे महान् पुण्य संग्रह कर महान् आत्मकल्याण करता है।

यदि दाताके दान कर्त्तव्यको उद्दिष्ट मान लिया जाय तो फिर अतिथिसंविभागव्रत और दानका अभाव होगा और अनेकप्रकारके दूषण प्राप्त होंगे। भगवान कुंदकुंदस्वामी व समस्त तीर्थंकरदेवोंके समय मुनिगणकी चर्याका अभाव होगा तथा—

भगवान् श्रीकुन्दकुंद स्वामी धरणीधर पर्वतसे सात सौ मुनिराजों-के संघ सहित गिरनारी पर्वतकी यात्राको गये थे। इस संघके साथ मुनिचर्याकेलिये लक्षावधि श्रावक श्राविका भी गई थीं। उनने मार्गमें सर्व मुनिराजोंकी चर्याकेलिये आहार बनाया था और मुनिसंघको दान

दिया था। इसप्रकार मुनिसंघकेलिये बनाया हुआ आहार भगवान् कुंद-कुंद स्वामी व उनके संघके मुनिराजोंने कैसे ग्रहण किया था, क्योंकि वह आहार स्थान-स्थानमें खास मुनिराजोंके लिये बनाया था वह उद्दिष्ट दोषसे दूषित हो गया, वह ग्रहण किसप्रकार हो सक्ता था ?

इसीप्रकार भगवान पूज्यपाद स्वामी उत्तरसे दक्षिण देशमें संघ सहित गये थे। उनको पहुंचानेकेलिये श्रावक साथ साथ गये थे और उन श्रावकोंने मुनिचर्याकेलिये मार्गमें प्रत्येक स्थानपर आहार बनाया था और वह आहार मुनिसंघने ग्रहण किया था तो यह उद्दिष्ट आहार किस प्रकार लिया था और श्रावकोंने किस प्रकार दान दिया था ?

प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें महान् पराक्रमशाली राजाओंने चतुर्विध संघ सहित सम्मेदशिखरकी यात्रा की और मार्गमें मुनिराजोंकी चर्याकेलिये आहार बनाकर दान दिया था तो चतुर्थकालमें यह उद्दिष्ट दोष-विशिष्ट आहार मुनिसंघने किसप्रकार ग्रहण किया था ?

श्रीआदिपुराणमें भगवान श्रीऋषभदेवके समयकी एक कथा है। उसका संक्षिप्त सार यह है कि-प्रीतिवर्द्धन महाराज अपने भाई सहित नगरके समीप एक पर्वतपर बैठे थे। राजाके पुरोहितने निमित्तज्ञानसे विचारकर कहा कि आज आपको यहांपर मुनिको आहारदान देनेका लाभ होगा। राजाने आश्चर्यसे पूछा यह कैसे संभवित है ? पुरोहितने कहा कि नगरमें किसी भी उत्सवके बहाने सचित्त पुष्पोंसे नगरका मार्ग रोक दीजिये, मुनिराज नगरसे वापिस यहांपर आयंगे, सो सबप्रकारकी तैयारी कराकर आहारदान दीजिये। राजाने पुरोहितके कहनेके अनुसार नगरका मार्ग सचित्त पुष्पोंसे रोक दिया और आहारकी तैयारी कर

मुनिराजको आहार दान दिया था। इस दानके प्रभावसे पंचाश्चर्य हुए। इसप्रकार सर्वप्रकारकी चेष्टाओंसे राजाने मुनिकेलिये आहार बनाकर दान दिया था। इसप्रकारके दानको उद्दिष्ट दोषसे दूषितही कहा जायगा परन्तु वहांपर पंचाश्चर्य हुए। यह कथा आदिपुराणमें २८३ पत्रसे प्रारम्भ हुई है।

वलभद्र, और रामचन्द्र आदि मुनीश्वरोंने जंगलमें आहार ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा की थी। धर्मज्ञ श्रावकोंको यह वात ज्ञात होनेपर श्रावकोंने जंगलमें जाकर आहार वनाया और मुनीश्वरोंको दान दिया। इसप्रकार मुनीश्वरोंकेलिये जंगलमें जाकर आहार वनाकर मुनीश्वरोंको देना यह उद्दिष्ट ही है परन्तु मोक्षगामी रामचन्द्रजीने मुनि अवस्थामें वह आहार ग्रहण किया था। इसका कारण यही है कि वह आहार उन मुनिराजोंने मन वचन कायसे न किया था, न कराया था और न अनुमोदना की थी। इसीप्रकार वे गुफाएं व शास्त्र तथा पीछी कमण्डलु आदि मुनिराजने नहीं कराये थे, और न उनकी अनुमोदना की थी। उन श्रावकोंने व राजा महाराजाओंने अपना कर्त्तव्य समझकर तथा आवश्यकता देखकर वनाये थे। वस आहार औषधि वसतिका शास्त्र उपकरण आदि सब आवश्यकतानुसार दिये जाते हैं सो श्रावकोंने आवश्यकता देख कर दिये। इसमें मुनियोंको उद्दिष्ट दोष नहीं लगता। यदि वे मुनिराज अपनेलिये कहकर वनवाते तो वे अवश्य ही उद्दिष्ट दोषके भागी होते परन्तु उन्होंने कहकर नहीं वनवाया इसलिये वे उद्दिष्ट दोषके भागी कभी नहीं हो सकते।

इसप्रकार उद्दिष्टत्यागी पुरुष अपने मन, वचन, काय, कृत,

कारित, अनुमोदनासे अपनेलिये आहार बनाने व बनवानेकी प्रवृत्ति नहीं करता है उसीको उद्दिष्टत्याग कहते हैं।

आहार बनाना, दान देना यह श्रावक लोगोंका परमावश्यक नित्य-का कर्त्तव्य है। पात्र आया सुनकर श्रावक भक्ति व हर्षसे उत्साहित होकर रससहित तथा नोरस पदार्थ (यद्यपि नीरस पदार्थ श्रावक सेवन नहीं करता है) कर्त्तव्य समझकर बनाता है। मुनिराज उसको ऐसा हमारे लिये करो कभी भी नवकोटिसे नहीं कहते हैं। इसीलिये वे उद्दिष्टके त्यागी कहलाते हैं।

इसलिये उद्दिष्टकेलिये लोगोंकी जो जो शंकायें हैं वे सब निर्मूल हैं। उद्दिष्टका त्याग पात्रको होता है श्रावकोंको नहीं। और इसीलिये पात्र किन्हीं भी श्रावकोंको अपनेलिये (स्वनिमित्त) आहा-रादिककी प्रवृत्ति नवकोटि (मन वचन काय कृत कारितानुमोदना) से नहीं करते हैं।

यदि मुनि अपने मन वचन कायके संकल्पमात्रसे आहारका उद्देश्य अपने लिये प्रकट कर आहार ग्रहण करें तो वे उद्दिष्ट दोषके परित्यागी नहीं हैं। यदि श्रावक द्रव्य क्षेत्र काल पात्रकी प्रकृति और प्रासुक शुद्ध आहार बनाकर दान नहीं करे तो वह श्रावक नहीं है। क्योंकि भगवान श्रीकुंदकुंद स्वामीने रयणसारमें बतलाया है कि—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा

भावार्थ—दान और पूजा ये दो ही श्रावकके मुख्य कर्त्तव्य हैं यदि श्रावक कहला कर जो दान और पूजा नहीं करे तो समझना चाहिये कि वह श्रावक ही नहीं है। स्वधर्मपराङ्मुख मलिनात्मा है।

जब दान देना श्रावकका मुख्य कर्त्तव्य है तब वह श्रावक अपने विज्ञान गुणसे पात्रके योग्य सरस व नीरस आहार बनायेगा ही, और वह दान देगा ही। जब दान देना श्रावकका आवश्यककर्म है तब दानके योग्य वस्तुओंका निष्पादन करना भी श्रावकका मुख्य कर्म है। फिर यह कैसे माना जाय कि श्रावकने आहार बनाया वह मुनिकेलिये ही बनाया, इस समारम्भके पापके भागी मुनि हैं। इसप्रकारकी कल्पना एक-प्रकारकी कुतर्कणा है और इसप्रकारकी कुतर्कणाके जालमें फंसकर ही उद्दिष्टत्यागके मूल अभिप्रायके समझनेमें असमर्थ होते हैं।

मूलाचार प्रभृति ग्रन्थोंमें उद्दिश्य (औद्दिष्ट) सम्बन्धी दोष श्रावकके १४ दोषोंमें बतलाया है इसलिये उद्दिष्ट शब्दका अर्थ यही होता है—जो आहार औषधी वसतिका और उपकरण आदि किसी भी पात्र-विशेषके उद्देशसे बनाये जांय वह उद्देश्य (औद्दिष्ट) है। इसलिये जो आहारादिक दानवस्तु किसी पात्रविशेषके निमित्त बनाई जायगी वह उद्दिष्ट दोष सहित ही हुई। ऐसे उद्दिष्ट मुनिगण ग्रहण नहीं करते हैं।

देवदयासंडट्ठं किविणट्ठं जंतु उद्दिसियं।
कदमण्णसमुद्देसं चदुव्विहं वा समासेण ॥६॥
जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥७॥

(मूलाचार पत्र ३३३-३३४)

भावार्थ—मूलाचारके इन दो गाथामें यह बतलाया है। देवतीर्थ पाखंडि साधुके अर्थ कृपणार्थ (दीनजनार्थ) आदि किसीभी व्यक्ति-विशेषकेलिये बनाया हुआ आहारादिक उद्देश्यरूप होनेसे औद्दिष्ट है।

इतने समयमें जो कोई भी (पात्रापात्र) आयेगा उन सबको मैं दूंगा, पाखंडी बाबा जो आयेंगे उन सबको दूंगा, परिव्राजक आदि जो आयेंगे उन सबको दूंगा अथवा निर्ग्रन्थ जितने आयेंगे उन सबको दूंगा इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रकारके पात्रोंके उद्देश्यसे बनाया हुआ अन्नादिक औद्दिष्ट है।

अधःकर्म दोषोंमें एक औद्दिष्ट दोष है। यह साधारण स्वल्प दोष है इसी श्लोककी संस्कृत टीकामें बतलाया है कि "अधः कर्मणः पश्चात् औद्देशिकं सूक्ष्मदोषमपि परिहर्तुकामः प्राह" भावार्थ—अधःकर्मके पश्चात् औद्दिष्ट नामके स्वल्प (साधारण) दोषको दूर करनेकेलिये कहते हैं। भावार्थ-उद्दिष्ट भारी दोष नहीं है अत्यन्त सूक्ष्म दोष है। साधारण दोष है।

इसका अभिप्राय।

औद्दिष्ट दोषको मूल अभिप्रायमें अज्ञानता

उद्दिष्टका मूल (मुख्य) अभिप्राय यह है कि किसी खास व्यक्तिकेलिये संकल्प (उद्दिश्य) कर कोई भी उत्तम वस्तु तैयार की हो और वह वस्तु उस व्यक्तिको न देकर किसी अन्य पात्रको दानमें दी जाय तो वह वस्तु अवश्यही औद्दिष्ट होगी। ऐसी वस्तुके ग्रहण करनेसे जिस वस्तुकेलिये वह वस्तु निष्पन्न की है उसको उसकी प्राप्ति न होनेसे परिणामोंमें मोहभाव लोभभाव और असूयाके भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उस व्यक्तिके हृदयमें आघात होता है और दाताके मनमें अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प होनेसे शल्य अवस्था होती है इसलिये

ऐसी किसी खास व्यक्तिके संकल्प (उद्दिश्य) रखकर बनाई हुई वस्तु उस व्यक्तिको न देकर अन्य पात्रको देना सो अवश्य ही औद्दिष्ट है।

दाता इसप्रकारके भावोंको रखकर किसी एक व्यक्तिकेलिये (खास उस व्यक्तिके ही संकल्पसे) जो वस्तु बनाकर उस व्यक्तिको न देकर अन्य दूसरे पात्रको देगा तो औद्दिष्ट दोष सहित वह दान कहलायेगा चाहे दाताने एक उत्तम वस्तु अपने लिये ही खास इरादेसे बनाई और वह अपने लिये बनाई वस्तु (जिसकेलिये उसके परिणाममें मोहभाव और स्वयं भोगनेका संकल्प हो रहा है) यदि पात्रको दी जाय तो भी वह औद्दिष्ट दोषसे दूषित समझी जायगी।

पदार्थ स्वयं भोगनेकेलिये स्वतः बनाया हो और उसके बनाते समय स्वयं भोगनेका संकल्प (इरादा वा उद्दिश्य) कर लिया हो तो वह स्वयंके लिये बनाई हुई वस्तु भी उद्दिष्ट दोषसे दूषित हो जाती है।

इसीप्रकार नाग यक्षादिकका खास नाम लेकर बनाया हुआ आहार मुनीश्वरादिक अन्य पात्रको दिया जाय तो वह औद्दिष्ट होगा।

पाखण्डी-परिव्राजक-कुलिंगी-और दीन याचकोंके निमित्त बनाया हुआ आहार अन्य पात्रको देनेसे औद्दिष्ट होगा।

औद्दिष्ट दोष केवल आहारमें ही नहीं समझना चाहिये किन्तु औषधी-बसतिका और उपकरणादि वस्तुओंके प्रदान करनेमें भी होता है।

कितने ही विद्वानोंका कहना है कि जो आहारादिक श्रावक अपने लिये बनावे वही आहारादिक मुनीश्वरादिक पात्रको देना चाहिये। परन्तु उनको यह बात मालूम नहीं है कि अपनेलिये बनाया हुआ खास

आहार भी औद्दिष्ट दोपसे सम्पन्न होता है। आहारादिक दान-वस्तु चाहे अपने संकल्प (उद्दिश्य) से बनाया जाय अथवा अन्य किसी भी व्यक्तिके संकल्पसे बनाया जाय वह सबही औद्दिष्ट दोप वाला होगा। यही उद्दिष्ट शब्दका अभिप्राय आचारसार आदि ग्रन्थोंमें बतलाया है।

यत्स्वमुद्दिश्य निष्पन्नमन्नमुद्दिष्टमुच्यते।
अथवा यामिपाखंडिदुर्बलानखिलानपि॥ २१॥

(आचारसार छपा हुआ पत्र ५६)

भावार्थ—दाताने अपनेही उद्देश्यसे अपने हीलिये बनाया हुआ अन्न अथवा यमी पाखण्डी और दीन याचकोंके लिये (उनके खास उद्देश्यसे) बनाया हुआ अन्न औद्दिष्ट है।

"यदन्नं स्वमुद्दिश्य निष्पन्नं तदुद्दिष्टं अथवा संयतानुद्दिश्य निष्पन्नं अथवा पाखंडिन उद्दिश्य निष्पन्नं अथवा दुर्बलानुद्दिश्य निष्पन्नं तदन्नं उद्दिष्टमुच्यते"

षट्प्राभृत पत्र २४६)

भावार्थ—दाताने स्वयं भोगनेकेलिये अपने संकल्प (उद्दिश्य) से बनाया हुआ अन्न, अथवा किसी खास मुनीश्वरका नामोचारण कर उनके ही संकल्प (उद्दिश्य) से बनाया अन्न, अथवा पाखण्डी परिव्राजक और दीन याचकोंके संकल्पसे बनाया हुआ अन्न औद्दिष्ट दोपपूर्ण है।

जैसे श्रीवीरसागर महाराजके संकल्पसे बनाया हुआ आहारादिक

श्रीशान्तिसागर महाराजको प्रदान करे, अपने भोगनेकेलिये बनाया हुआ अन्न मुनीश्वरको प्रदान करे तो औद्दिष्ट है।

जो आहार अपनेलिये बनाया हो वह तो नियमसे ही उद्दिष्ट दोष-पूर्ण होता है। यदि गृहस्थके भावोंमें यह संकल्प है कि इस आहार-को मैं ही ग्रहण करूंगा इसप्रकारके भावोंको रखकर गृहस्थने जो आहार अपने लिये प्रासुक विधिपूर्वक शुद्ध बनाया है वह आहार यदि मुनिको प्रदान करे तो वह आहार उद्दिष्ट दोष सहित है। क्योंकि दाताके भाव उस आहारको स्वयं ग्रहण करनेके थे वह स्वयं ग्रहण नहीं करे और अपने लिये बनाये हुए उस आहारको मुनिकेलिये दान करे तो उस दाताके परिणामोंमें क्लेशभाव होगा इसलिये वह स्वनिमित्त बनाया हुआ आहार उद्दिष्ट दोष सम्पन्न है।

इसी प्रकार लोगोंकी एक यह भी धारणा है कि मुनिकेलिये बनाया हुआ आहार उद्दिष्ट है परन्तु आगमका रहस्य नहीं समझनेसे यह ऐसी धारणा हो रही है। आगममें यह अभिप्राय सर्वथा नहीं है और न आगममें यह बात कहींपर बतलाई है। चार प्रकारके उद्देश्योंमें "मुनिकेलिये बनाया हुआ आहार उद्दिष्ट दोष सहित होता है" उसका अभिप्राय मूलाचारमें इसप्रकार बतलाया है—

अच्चेलकुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिदियम्मं।
वद जेठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो॥

टीका—अचेलकत्वं वस्त्राद्यभावः, अत्र यो नञ् स उत्तरत्राभि-संबंधः। यथा चेलकस्याभावस्तथौद्देशिकस्याभावस्तथा शय्यागृह-

स्याभावस्तथा राजपिंडस्याभावः। उद्दिश्य न भुंक्ते, उद्देशे भवस्य दोपस्य परिहारोऽनौद्देशिको—मदीयायां वसतिकायां यस्तिष्ठति तस्य दानादिकं ददामि नान्यस्येत्यवमभिप्रेतस्य दानस्य परिहारः। शय्यागृहपरिहारो, मठगृहमपि शय्यागृहमित्युच्यते तस्यापि परिहारः राजपिंडस्य परित्यागो वृष्यान्नस्येन्द्रियवर्धनकारिण आहारस्य परित्यगोथवा स्वार्थं दानशालाया ग्रहणं यत्तस्य परित्यागः।"

भावार्थ—जिसप्रकार वस्त्रादि परिग्रहका अभाव साधुकेलिये आवश्यक है उसीप्रकार औद्देशिक आहार शय्यादि पदार्थोंका अभाव भी परमावश्यक है।

साधु—औद्देशिक आहार-औद्देशिक शय्या वसतिका और औद्देशिक उपकरणादि ग्रहण नहीं करते हैं। औद्देशिक आहारका स्वरूप—जो ये मुनि मेरी ही वस्ती (गृह) में ठहरे हैं या मेरे गृह या धर्मशालामें ठहरे हैं उनको ही मैं आहार दूंगा अन्य मुनिको नहीं दूंगा इसप्रकार किसी एक मुनिको कारणविशेपसे लक्ष्यकर (उद्देश्यकर) उनकेलिये अपने भावोंमें संकल्प रखकर आहार बनाकर देना सो उद्दिष्ट है। इसीप्रकार मैं इस धर्मशालामें अमुक मुनिको ही ठहराऊंगा अन्यको नहीं, इसप्रकारके भावोंका संकल्पकर जो वसतिका दान किसी खास व्यक्तिविशेपको लक्ष्य रख-कर किसी विशेप कारणसे दान करे और अन्य मुनिके लिये भाव नहीं रखे तो ऐसी वसतिका दान उद्दिष्टदोप सम्पन्न होगा।

इसीप्रकार यह पीछी कामण्डलु आदि उपकरण अमक मुनिको ही

देना है अन्यको नहीं, इसप्रकारके भावोंके संकल्पको किसी कारण-विशेष (मतलब)से रखकर उपकरण प्रदान करना सो ये उपकरण उद्दिष्ट दोपसहित हैं।

इसप्रकार मुनिकेलिये बनाया हुआ आहार उद्दिष्ट नहीं है किन्तु किसी खास अपने मतलबको अपने भावोंमें रखकर किसी व्यक्तिविशेष-मुनिको खास उसीके निमित्तसे आहार बनाकर और उसीको ही देना अन्य मुनिको नहीं देना सो उद्दिष्ट दोपसहित है।

यद्यपि उद्दिष्ट दोप सूक्ष्म है, पात्रको ज्ञात नहीं हो सक्ता है तो भी गृहस्थके साथ विशेप प्रेम होनेसे और उस गृहस्थका मतलब सिद्ध करनेके लक्ष्यसे जो मुनि जानबूझकर उसीका आहार ग्रहण करे और मनमें यह जाने भी कि मैंने इस अभिप्रायको पूर्ण करनेके लिये ही यह आहार लिया है और गृहस्थ भी यह अच्छी तरह जानता हो कि अमुक व्यक्ति (मुनिविशेप) से मेरा यह अभिप्राय सिद्ध होगा इसप्रकार-के भावोंको लक्ष्य रखकर जो गृहस्थ उसी मुनिविशेपकेलिये आहार बना कर देगा तो वह आहार उद्दिष्ट दोपसहित है।

इसीप्रकार परिव्राजक-साधु-बावा रक्तवेषधारी जटाधारी सटाधारी आदिके खास निमित्तसे बनाया हुआ आहार मुनिकेलिये देना सो उद्दिष्ट आहार है।

इसीप्रकार इंगिनी आर्यिका आदि किसी मुख्य व्यक्तिविशेषके नामसे बनाया हुआ उन इंगिनी और आर्यिकाको न देकर मुनि आदि-को वही आहार देना सो वह उद्दिष्ट है।

इसप्रकार उद्दिष्टके चार भेद हैं। चारों प्रकारके उद्दिष्टमें यह बात

मुख्यरूपसे जानना चाहिये कि जो आहार किसी व्यक्तिविशेपके उद्देश्यसे खास उसीकेलिये तैयार करे फिर भी दाताके यह भाव हों कि यह आहार मैं उनकेलिये ही दूंगा अन्यकेलिये नहीं दूंगा। न अन्य किसी भी पुण्य पुरुषको यह सर्वोत्तम आहार देनेके मेरे भाव हैं इसप्रकार भावोंमें कुटिलता रखकर जो दाता उस आहारको अन्य उत्तम पात्रको देवे तो वह आहार औद्देशिक आहार होगा क्योंकि जिस व्यक्तिविशेपकेलिये वह आहार बनाया था वह उसको नहीं मिलनेपर दाता और उस व्यक्तिविशेपका मन अतिशय दुःखित होता है। किसी भी व्यक्तिको दुख देकर मुनिगण आहार नहीं करते हैं। इसलिये वे किसी व्यक्तिविशेपके खास उद्देश्य (निमित्त) से बनाया हुआ आहार भी ग्रहण नहीं करते हैं।

दाताके परिणामोंमें किसीप्रकारका दुःख नहीं होना चाहिये। न किसीप्रकार संकल्प विकल्प ही होना चाहिये। यद्यपि दाताके परिणामोंको जान लेना कठिन है, एकप्रकारसे असंभव ही है क्योंकि अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी मुनि भी आहारके समय अपने अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञानका उपयोग कदापि नहीं करते हैं न किसी निमित्त-ज्ञानके द्वारा दाताके परिणामोंको जाननेका प्रयत्न ही करते हैं इसीलिये यह दाताके आश्रित उद्दिष्ट दोपको सर्वथा जाननेमें असमर्थ होते हैं और इसीलिये यह उद्दिष्ट दोष एक साधारण स्वल्प और अत्यंत सूक्ष्म दोप माना गया है।

कदाचित् दाताके परिणाम किसी निमित्तसे मालुम पड़ जावें तो

उस घर मुनिगण आहार ही ग्रहण नहीं करेंगे और आहार लेनेके पश्चात् ज्ञात होनेपर प्रतिक्रमण ग्रहण करेंगे।

उद्दिष्ट दोष सहित आहार ग्रहण करनेपर आगममें केवल प्रतिक्रमण ही बतलाया है प्रायश्चित्त नहीं बतलाया है । इसलिये यह उद्दिष्ट दोष साधारण दोष है, सूक्ष्म दोष है, और इसीलिये श्रीमूलाचारकी टोकामें इसको अत्यन्त सूक्ष्म दोष बतलाया है, परंतु संस्कृत नहीं जाननेवाले भाइयोंने इस उद्दिष्ट दोषको एक भारी दोष समझ रखा है और उसका अर्थ भी विपरीत समझ रखा है। इसलिये विचारशील भाइयोंको विचार करना चाहिये और मनसे भ्रमको निकाल देना चाहिये।

दाताने किसके संकल्पसे आहार बनाया है यह बात यद्यपि पात्रको किसीप्रकार ज्ञात नहीं होती है क्योंकि दाताके परिणामोंका संकल्प या दाताके भावोंका अभिप्राय पात्र जान नहीं सक्ता है, इसलिये यह औद्दिष्ट दोष अधःकर्म आदि दोषोंमें दातापर ही बतलाया है न कि पात्रपर। यदि दाता जानबूझ कर अन्यके संकल्पसे बनायेहुए आहारादिकको और किसी दूसरे ही पात्रको प्रदान करे तो जिस व्यक्तिके संकल्प (उद्दिश्य) से आहार बनाया है उस व्यक्तिके परिणामोंमें मोह और क्षोभभाव होनेसे पात्रके प्रति मात्सर्यता होती है और ऐसे अन्न देनेमें दाता और उस व्यक्तिका दिल खिन्नभावको प्राप्त होता है। किसीको भी खेदखिन्न कर मुनिगण आहार लेते नहीं हैं

इसीलिये उद्दिष्ट आहार दाताको नहीं देना चाहिये और यदि पात्रको ज्ञात हो जावे तो उस आहारका परित्याग कर देना चाहिये ।

इस प्रकारका उद्दिष्ट दोष साधारण स्वल्प दोष है। आचार्योंने सूक्ष्म दोष माना है परंतु लोगोंने उद्दिष्ट दोषको महा भयंकर भारी दोष समझकर अनेकप्रकारकी कल्पना कर रखी है। यह उनकी शास्त्रकी अनभिज्ञता है।

जिस प्रकार यह उद्दिष्ट दान देनेवाला दाता दानक्रियामें अप्रशस्य समझा जाता है। उसीप्रकार अधःकर्म आदि दोषोंका विचार नहीं रखनेवाला दाता अप्रशस्य माना है।

दाताके आधीन १६ दोष होते हैं। उन दोषोंका जानना परमावश्यक है। अति संक्षेपसे उनका स्वरूप यह है—

अधःकर्म—जिस आरंभसे प्राणियोंको उपद्रव हो १, प्राणियोंके अंगोपांगका विच्छेद हो २, प्राणियोंको संताप हो अथवा प्राणियोंके प्राणोंका नाश हो वह अधःकर्म है। आहारादि क्रियाका इतने यत्नाचार और सावधानीसे (देखकर और अच्छीतरह जीव जंतुओंको शोधकर) आरंभ करना चाहिये जिससे किसी भी त्रस जीवको बाधा न हो। स्थावर जीवकी बाधा तो अनिवार्य है; परन्तु इंधन आदि द्रव्य तथा जीवयुक्त क्षेत्रमें त्रस जीवोंको शोध कर आहारक्रिया करनी चाहिये। इसके प्रायः १६ भेद हैं।

उद्दिष्ट १ अध्यवधि २ पूति ३ मिश्र ४ स्थापित ५ वलि ६ प्राभृत ७ प्राविष्कृत ८ क्रीत ९ प्रामृष्य १० परिवर्त ११ अभिहत १२ उद्भिन्न १३ मालारोहण १४ आच्छेद्य १५ और अनिसृष्ट १६।

उद्दिष्ट १—किसी भी व्यक्तिविशेषके निमित्तसे बनायाहुआ आहार दूसरे व्यक्तिको प्रदान करना सो उद्दिष्ट है।

अध्यवधि २—रसोई हो रही है और मालुम हुआ कि पात्र आये हैं तब दालमें पानी डालकर दालको चढ़ा देना इसप्रकार मनके दुर्भावसे यह दोष है।

पूतिदोष ३—जिस पात्रमें मिथ्या (पाखंडी) गुरुओंको भोजन कराया हो उस पात्रके अन्नको मुनिराज (उत्तम पात्र) आदिको देना सो पूतिदोष है। अप्रासुक पात्र वा बर्तनसे दान देना सो दोप है।

मिश्र ४—अप्रासुक द्रव्य या पात्रकी मिश्रणता है उसको मिश्र-दोष कहते हैं।

स्थापित दोष ५—रसोई जिस गृहमें शुद्धता पूर्वक क्रियासे बना-कर अन्यगृह वा अन्य क्षेत्रमें ले जाकर रखना सो स्थापित दोष है। अथवा अशुद्ध पात्र (बर्तन) में रसोई बनाकर पुनः शुद्ध पात्र (बर्तन) में रखना सो भी स्थापित दोष है।

बलि ६—यक्षादिकोंको बलि देनेकेलिये बनाया हुआ अन्न देना सो बलि दोष है। अथवा मेरे घरपर आज मुनीश्वर आ जावें इस इरादेसे यक्षादिकोंको बलि देना सो बलि दोष है।

प्राभृत ७—मैं आज आहार नहीं देता परसों दूंगा। मैं अमुक तिथिको ही दान दूंगा इसप्रकार लोभ परिणामोंका संकल्प विकल्प सो प्राभृत दोष है।

प्राविष्कृत ८—हे भगवन्! यह मेरा घर है, यह मेरी स्त्री है। इस-प्रकार अपना घर बतलाकर आमंत्रणका संकेत करना प्राविष्कृत दोष है।

क्रीत ९—पात्रको आया सुनकर शिष्यके घरसे विद्याके उपहारमें पक्व अन्न लाकर देना सो क्रीत दोष है।

प्रामृष्य १०—मुनिका आगमन सुनकर मुनिके निमित्त ही ऋण (कर्ज) कर आहार देना सो प्रामृष्य दोष है।

परिवर्तन ११—दाताके घरपर पूडी है परन्तु पात्र भातको लेना चाहता है इसलिये दाता पूड़ीके बदले दूसरेके घरसे भात लाकर दान देवे तो वह परिवर्तन दोष है।

अभिहित १२—एक ग्राम (मोहल्ला) से दूसरे मोहल्लामें लाकर दान देना सो अभिहित दोष है। यदि शुद्ध अन्न मन वचन कायकी शुद्धिवाला दूसरा गृहस्थ एक लाइनसे सात घरका आहार स्वयं लाया हो तो मुनिगण ले सक्ते हैं। परन्तु जिस दाताके घर पात्र आये हैं वह स्वयं अथवा अपना मनुष्य भेजकर दूसरा मुहल्लेसे शुद्ध अन्न भी मंगाकर नहीं दे सकता।

उद्भिन्न १३—एक आहारादिक किसी पात्रमें बांध कर रखा हो उसको खोलकर दान देना सो उद्भिन्न दोष है

मालारोहण १४—रसोईका चौका नीचेके मकानमें है, मुनिको दान वहांपर ही हो रहा है परंतु घृतका पात्र ऊपरके मकानमें है ऐसे समय दाता जल्दी २ ऊपर जाकर उस घृतको लाकर देवे तो मालारोहण दोष होगा क्योंकि जीवोंकी बाधा होना संभव है। यदि रसोई दूसरे मजलेमें बनी है तो मुनिगण वहांपर जा सकते हैं, इसमें दोष नहीं है, वहांपर आहार हो सकता है।

आच्छेद्य १५—राजाके भयसे अथवा अन्य किसी भी दबावसे

वश होकर आहार देना आच्छेद्य दोष है इसमें परिणामोंकी विकलता होती है।

अनिसृष्ट १६—अपने स्वामी राजा अथवा दुकानके मालिकको प्रसन्न रखनेके अभिप्रायसे दान देना सो अनिसृष्ट दोष है।

इन सोलह दोषोंका दाताको विचार करना चाहिये। तथा एषणादिक १० दोषोंका विचार रखना चाहिये। शंकित १ म्रक्षित २ निक्षिप्त ३ पिहित ४ उज्झित ५ व्यवहार ६ दातृ ७ मिश्र ८ अपक्व ९ लिप्त १० ये दश दोष हैं।

शंकितदोष १—यह आहार सेव्य है या असेव्य? इसप्रकारकी शंकाको शंकित दोष कहते हैं। मन वचन काय आहारकी विधि और आहारद्रव्यको शुद्ध रखनेसे पात्रको शंका नहीं होती है इसलिये दाताको चाहिये कि पात्रके मनमें संदेह न हो ऐसी प्रवृत्तिसे सरल व शुद्धभावसे दान देवें।

म्रक्षित २—घृत आदिके चिकने हाथोंसे आहार देना सो म्रक्षित दोष है।

निक्षिप्त ३—सचित्त कमलपत्र केलाके पत्र या ऐसे दूसरे सचित्त पदार्थपर रखा हुआ अन्न निक्षिप्त दोपवाला है।

पिहित दोष ४—सचित्त कमलपत्र आदि पदार्थोंसे ढकाहुआ अन्न पिहित दोष सहित है।

उज्झित दोष ५—आम्रफलादिकका अल्प सेवन करना सो उज्झित दोष है।

व्यवहार दोष ६—मुनीश्वरोंके भया संभ्रमसे पाटला बर्तन आदि

पदार्थोंको खींचकर लेना और जंतुओंको बाधा नहीं देखना सो व्यवहार दोष है।

दातृ दोष ७—एक धोती या फटा गंधा मलिन वस्त्र चर्म ऊन आदि के वस्त्रोंको पहननेवाला निर्वस्त्र कहलाता है ऐसे निर्वस्त्र शण्ड पिशाच अंध पतित (दशा) जातिच्युत मृतकके साथ श्मशानमें जानेवाला, तीव्र रोगी व्रणी लिंगी नीचस्थानमें बैठनेवाला, आसन्नगर्भणी वेश्या दासी अशुचि यज्ञोपवीतादि चिह्नरहित क्षुद्र मलिन विचारवाला दीन भिक्षुक विकलांग परान्नजीवी और शूद्र आदिके संयोगसे होनेवाले दोष दातृदोष हैं।

मिश्र दोष ८—षट्प्रकारके जीवोंसे मिश्रित अन्न सो मिश्रदोष है।

अपक्व दोष ९—अग्निके संयोग होनेपर भी (पाचनक्रिया करनेपर भी) दाल भात आदि द्रव्यका वर्ण रस गंध पूर्वका न बदला हो कच्चा हो वह अपक्व दोष है।

लिप्त दोष १०—चमची थाली कटोरा गिलास लोटा आदि भाजन मिट्टी और सकरापनसे लिप्त हो वह लिप्त दोष है। अथवा अप्रासुक जल अप्रासुक मलिन वस्तुसे लिप्त भाजनमें रखकर दान देना या अशन आदि पदार्थमें अप्रासुक वस्तुका संयोग होना सो लिप्त दोष है।

दाता और पात्रको संभालनेयोग्य कार्य।

काक आदि जीवोंकी शरीरपर विष्टाका पात, वमन, अश्रुपात, दुखसे व्याकुलता, रोटी आदि अशन पदार्थका हाथसे पतन, हाथ या थालीमेंसे काकादि जीवोंद्वारा पिंड हरण, (रोटी आदि ले जाना)

जमीनपर गिरेहुऐ पदार्थका सेवन; मुनिराजके पैरके वीच (मध्य-भाग) में पंचेन्द्रिय मूषा चिरेटो आदि जीवका आवागमन, थूकना, अपने दातोंसे काटना, ग्राम नगरको उपद्रवकारी अग्निदाह आदिके शब्दश्रवण, भंगी चमार ढेढ कसाई खटीक आदिके भयंकर ग्लानि-कारक शब्द और जिन प्रतिमाभंग आदिके भयङ्कर ग्लानिकारक शब्द और जिनप्रतिमाभङ्ग आदिके शब्दोंका श्रवण, उपसर्ग आदि उत्पातकी अवस्था, अयोग्य गृह (शूद्र सूतक पातक पतित मांस मदिरासेवी आदिके ग्रहमें प्रवेश) में प्रवेश, घुटनेके नीचेके भागका स्पर्श, पशुओंका आक्रन्दन वध वंधन, अयोग्य क्षेत्र आदि अंतरायके कार्योंको दाता अवश्य ही संभाल रखे और विज्ञानपूर्वक विवेक व विनयसे आहार देवे।

दातामें सबसे अधिक गुण विज्ञान माना है। इसलिये दान देते समय मुनीश्वरकी प्रकृति, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भक्षा-भक्ष, सेव्यासेव्य, योग्य अयोग्य आदि समस्त बातोंका विचार निरंतर रखना चाहिये। दाताके भाव इतने भक्ति-रस प्लावित होना चाहिये कि मैं किसप्रकार कौनसे उपाय-से कैसे और किसप्रकार दानसे पात्रके मनोनुकूल दान कर रत्नत्रयकी वृद्धि व सन्मार्गकी स्थापना कर सकूं। इसी-प्रकारकी विशुद्ध भावनासे सबप्रकारकी वैयावृत्य पात्रकी सेवा, पात्रकी सुश्रुषा, पात्रकी आज्ञापालन, और पात्रके पवित्र गुणोंकी अनुरागता आदि समस्त कार्योंको विनय

और ज्ञानपूर्वक करना चाहिये। दाताके परिणामोंका स्रोत इतना विशुद्ध व निष्कपट होना चाहिये कि जिसको देखते ही पात्रको संतोष हो जाय।

नवधाभक्ति

नवधाभक्तिके विना दान ही नहीं होता है। दानकी उत्तमता और दाताकी परीक्षा नवधाभक्तिसे स्वयमेव प्रकट हो जाती है। इसलिये संयमी नवधाभक्ति पूर्वक ही दानको ग्रहण करते हैं। जिस दाताको दानकी क्रियाओंका ही परिज्ञान नहीं है वह दान देनेका अधिकारी नहीं है इसलिये पात्र नवधाभक्ति नहीं जानने-वालेके हाथसे कभी दान ग्रहण नहीं करते हैं।

व्यवहार या गृहस्थोंके समाचार धर्मोंमें सबको दान देते समय शिष्टाचार रूप नवधाभक्ति अपने सधर्माओंके साथ नियमपूर्वक करनी ही पड़ती है। यदि गृहस्थ अपने सधर्मीके साथ नवधाभक्ति नहीं करै तो सधर्मा उसको अयोग्य समझ कर उससे संबंध परित्याग कर देते हैं।

मुनिगण या साधारण व्रती भी नवधाभक्तिके अनुयोगरूप ही अपनी प्रवृत्ति रखते हैं और ऐसा रखना परमावश्यक है, इसीलिये नवधाभक्तिका परिज्ञान प्रत्येक भव्य जीवको होना ही चाहिये।

नवधाभक्तिके प्रथम मुनिगणोंकेलिये कुछ विशेष नियम पालन करने पड़ते हैं। उनका दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है।

द्वारापेक्षण ।

चर्याके समय दाताको शुद्ध धोती और डुपट्टाको पहन कर यज्ञोपवीत तिलक लगा कर कुत्ता चाण्डाल रजस्वला आदि अशुद्ध जीव, तथा अशुद्ध वस्त्रको धारण करनेवालेके स्पर्शसे रहित कलश या दूसरे मांगलीक पदार्थ हाथमें लेकर पात्रके संयोग मिलानेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। घरके बाहर दरवाजापर मंगलसूचक चौक पूरना चाहिये और घरके चौकमें सांथिया आदि निकाल कर सूतक पातकके दोषोंसे रहित श्रावकके घरकी परीक्षा उक्त चिह्नोंसे पात्रको करानी चाहिये।

दाताको अपने घरके बाह्य दरवाजेपर ही खड़ा रहना चाहिये; यदि दाताका गृह मकानोंकी आड़में गूढ़ हो तो गलीमें आकर खड़ा रहना चाहिये। जहांपर वह खड़ा हो वहांतकका क्षेत्र पानी छिड़क कर शुद्ध कर लेना चाहिये।

पात्रको देखते ही दाताको अपने मनसे हर्षित होकर सबसे प्रथम पात्रके दर्शन करना चाहिये क्योंकि देव गुरु शास्त्रकी भक्ति दर्शनपूर्वक ही होती है। इसलिये नवधा-भक्तिके प्रथम ही गुरुका दर्शन करना मुख्य माना है। जिनागममें यही आज्ञा बतलाई है और तीर्थंकर भगवानने भी यही प्रवृत्ति स्वयं की है।

देव और गुरुके दर्शनकी विधि।

सुपात्रदर्शनादेव त्रिनतिं त्रिप्रदक्षिणां।
कुर्यात् विधिविधानज्ञो दानादौ दर्शनं मतं॥ (दानशासन)

भावार्थ—दानकी विधि जाननेवाला दाता सबसे प्रथम सुपात्रको देखते ही तीन प्रदिक्षणा और तीन नति (नमोस्तु) नमस्कार करे इस क्रियाको आचार्योंने दर्शन माना है।

श्रीऋषभदेवकी सबसे प्रथम प्रदक्षिणा और नतिकर ही नवधाभक्ति श्रेयांस महाराजने की थी।

प्रत्युद्गम्य ततो भक्त्या यावद्राजांगणं बहिः।
दूरादवनतौ भर्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥७१॥
सार्घं पाद्यं विधायांघ्र्योः परीत्य च जगद्गुरुम् ॥
तौ परं जग्मतुस्तोषं निधाविव गृहागते ॥७२॥
तौ देवदर्शनात्प्रीत्या गात्रे पुलकमूहतुः।

(आदिपुराण ७०८ पत्र)

भावार्थ—श्रेयांसकुमार और उनके भाई महाराजने श्रीऋषभदेव भगवानका आगमन सुनकर भक्तिके साथ अपने राजमहलके आंगनके बाहर आकर दूरसे ही श्रीऋषभदेवको देखकर उनके पवित्र चरणोंको नमस्कार किया, अर्घ चढ़ाकर जगद्गुरुकी तीन प्रदक्षिणा दी और अपने घरपर निधि आनेके समान हर्षित हो कर वे दोनों देवदर्शनसे पुलकितवदन हुए। फिर उनने नवधाभक्ति की जिसका वर्णन ८६-८७ श्लोकोंमें आगे बतलाया है।

इसीप्रकार महावीरकी चर्याका वर्णन करतेहुए खुलासारूपसे भगवान गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणमें बतलाया है।

अथ भट्टारकोप्यस्मादगात्कायस्थितिं प्रति।
कुलग्रामपुरीं श्रीमान् व्योमगामिपुरोपमं ॥१८॥

कूलनामा महीपालो दृष्ट्वा तं भक्तिभावतः ।
प्रियंगुकुसुमांगाभः त्रिपरीत्य प्रदक्षिणां ॥१४॥
प्रणम्य पादयोर्मूर्ध्ना निधिं वा गृहमागतं ।
प्रतीक्ष्यार्घादिभिः पूज्यस्थाने सुस्थाप्य सुव्रतं ॥२०॥

(उत्तरपुराण पत्र ६११)

भावार्थ—भगवानभट्टारक परमदेव श्रीवीरप्रभु शरीरकी स्थितिके-लिये स्वर्गोपम कुलग्राममें पधारे और कूलनामक महाराज प्रभुको दूरसे ही देखकर भक्तिभावसे पुलकित हुआ और उसने तीन प्रदक्षिणा दीं, पवित्र चरणोंको मस्तक नवाकर नमस्कार किया और अपने गृहमें निधि आई हुई समझी फिर उच्च स्थानमें विराजमान कर अर्घादिक द्रव्योंसे पूजा की ।

इस प्रकार नवधाभक्तिके प्रथम गुरु देव दर्शन करनेकेलिये बाहर पडगानेकी आदिमें तीन प्रदक्षिणा देना चाहिये । ऐसे पद्मपुराणमें खुलासापूर्वक बहुत उदाहरण मिलते हैं ।

नवधाभक्तिके नाम

प्रतिग्रहणमत्युच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनं ।
पादप्रधावनं चार्चा नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी ॥८६॥
विशुद्धिश्चाशनस्येति नव पुण्यानि दानिनां ।

(आदिपुराण पत्र ७१०)

प्रतिग्रह १ उच्चस्थान २ पाद-प्रक्षालन ३ अर्घादिक द्रव्यसे पूजा

४ नति ५ मनशुद्धि ६ वचनशुद्धि ७ कायशुद्धि ८ और आहारशुद्धि ये ९ दान देनेको पुण्योत्पादक क्रिया हैं।

प्रतिग्रह १—पात्रके दर्शनके पश्चात् प्रतिग्रह किया जाता है। पात्रको अपने मिष्ट वचनोंके द्वारा अपने गृहमें ले जानेकेलिये जो क्रिया करनी होती है वह प्रतिग्रह कहलाता है। उसका स्वरूप यह है—

नमोस्तु नमोस्तु स्वामिन् तिष्ठ तिष्ठ सुपावन।
तं प्रतिग्रहमित्याहुः समुत्थाय नताननः॥

(दानशासन)

भावार्थ—हे भगवन् नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु, हे स्वामिन् तिष्ठ तिष्ठ इत्यादिक वचनोंके द्वारा खड़े होकर मस्तकको भक्तिके साथ विनयपूर्वक नमाकर अपने गृहमें चर्या स्वीकार करनेकेलिये जो पात्रको ठहराना, वह प्रतिग्रह है।

प्रतिग्रह क्रियामें—मैं दोषरहित उच्चकुलीन श्रावक हूं, मैं श्रावककी क्रिया तथा भोजनशुद्धिको आगमानुकूल शुद्ध करता हूं। इसलिये हे भगवन्! गृहमें प्रवेश कीजिये। हे भगवन्! यह क्षेत्र भी शुद्ध है और आहार पानी शूद्रादिकके स्पर्शसे रहित है।

श्रावकको इस क्रियाको देख कर और श्रावकको श्रद्धादि विज्ञान-गुणका धारक योग्य दाता समझ कर पात्र उस गृहमें जानेकेलिये सन्मुख होता है।

उस समय दाताको पात्रके आगे होकर अपने गृहका मार्ग बतलाता हुआ और जिस स्थानमें पात्रको विराजमान करना है उस क्षेत्रकी

तरफ गमन करना चाहिये। यदि वह क्षेत्र भोजनशालामें हो है तो दाताको अपने पैर धोकर पादस्नान* करना चाहिये।

आहार देते समय दाताको अपने पाद और हस्त गर्म जलसे धोना

---

* श्रावकका यह धर्म है कि जब जब चौकामें जावे तब तब शुद्ध ही (धुलेहुये) वस्त्र पहन कर और पादप्रक्षालन कर ही जावे। यदि शरीर अशुद्ध हो तो सर्वाङ्ग स्नान करना चाहिये। सर्वाङ्ग स्नान नित्यप्रति दिवस किया जाता है। श्रावकने सर्वाङ्ग स्नान करनेपर यदि मलिन क्षेत्र (अशुद्ध) में गमनागमन किया हो तो पुनः पादस्नान करना चाहिये। धौतवस्त्र और पादप्रक्षालन किये विना कदापि भोजन नहीं करना चाहिये। स्नान पांचप्रकारके होते हैं—आचेलस्नान-जिसको सर्वाङ्ग स्नान कहते हैं। भगवानकी पूजा करनेकेलिये सर्वाङ्ग स्नान किया जाता है यह सर्वाङ्ग स्नान मुखशुद्धि पूर्वक इन्द्रिय गुदा लिंग नेत्र कर्णआदि शरीरके सूक्ष्म स्थूल भागोंको प्रासुक जलसे किया जाता है। दाता यह स्नान भगवानकी पूजा करनेके समय प्रातःकाल नित्य प्रतिदिवस करता ही है। परन्तु वह अशुद्ध वस्त्रके धारक मनुष्योंसे स्पर्शित हो गया हो तो योग्य क्रियासे शुद्ध वस्त्र बदल लेवे।

कंठस्नान—यह स्नानका दूसरा भेद है, जो नीचेसे कंठतक किया जाता है। कटिस्नान (कमरपर्यन्त) स्नान करना और हाथ मुख प्रक्षालन करना यह स्नानका तीसरा भेद है। जानु स्नान घुटनेपर्यन्त शुद्धि करना और हाथ मुंह धोना सो जानुस्नान है।

पांव-हाथ और मुखकी शुद्धि करना सो पादस्नान है।

चाहिये। सचित्त जलसे कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये। दाताको अपने पैर धोये विना चौकामें प्रवेश नहीं करना चाहिये।

उच्चस्थान प्रदान

दाता योग्य और निर्जंतुक स्थानपर शुद्ध विराग आसन (पाटला-चौकी आदि) रख कर पात्रसे प्रार्थना करे कि हे स्वामिन्! इस उच्च स्थानपर विराजिये।

दत्तमुच्चासनं तस्मै सोन्नतासनमुच्यते।

भावार्थ—पात्रकेलिये भूमिसे उच्च आसन (शुद्ध और विराग ऐसा पाटला आदि) रख कर उसपर पात्र प्रभुको विराजमान होनेकेलिये निवेदन करना चाहिये। यह उच्चासन है। उच्चासनपर पात्र विना कहे नहीं बैठते हैं।

पादप्रक्षालन

दाता पात्रकी भक्ति प्रकट करनेकेलिये परम पवित्र परम पूज्य और महान पुण्योदयसे स्पर्शन करनेयोग्य पात्रके चरण-कमलोंका प्रक्षालन प्रासुक अचित्त जलसे करता है उसको पादप्रक्षालन कहते हैं। पादप्रक्षालनसे पवित्रतर वह पुण्य-जल गंधोदक कहलाता है। दाता उसको वंदना कर अपने शीर्षपर रखे।

मुनिपादाम्बुजद्वंद्वक्षालनं पाद्यमीरितं।

पूजा

पात्रकी योग्य शुद्ध जलादिक द्रव्योंसे मंत्रपूर्वक पूजा करना सो पूजा है।

मुनिपादार्चनं यच्च सा पूजेत्यभिधीयते।

नति

पात्रकी पूजा कर अन्तमें पात्रको पंचाग नमस्कार करना चाहिये। इसको नति कहते हैं।

पंचांगप्रणतिर्यत्र प्रणाम इति संस्तुते।

दोनों हाथ २ दोनों जानू २ और मस्तक १ भूमिपर योग्य रूपसे नमस्कार करना यह पंचाग प्रणाम है। पंचांग प्रणाम करते समय दोनों हाथ कमलाकार मस्तकपर रखकर विनयसे नमस्कार करना चाहिये।

पंचांग नतिके पश्चात् दाता थाली वर्तन आदिको गर्म जलसे धोकर शुद्ध वस्त्रसे पोंछकर आहारको थालीमें परोसे। इस क्रियाको करते समय भिन्न भिन्न रसवाले पदार्थोंको भिन्न भिन्न चमचो आदि भाजनसे पृथक् पृथक् कटोरी आदिमें रखना चाहिये। एक रसवाले हाथ व भाजनको गर्म जलसे धोकर फिर दूसरे रसवाले पदार्थको रखना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये एक रसका संयोग दूसरे रसके साथ न हो। धना मिरच नमक मसाला आदि भी पृथक् रखना चाहिये।

थालको परोस कर और लोटामें गर्म पानी भरकर पाटला या चौकी आदिपर जंतुको देखकर शुद्धता पूर्वक रखना चाहिये।

इसप्रकार समस्त आहार सामग्रीको तरकीबसे विधिपूर्वक योग्य स्थानपर रखकर दाता फिर अवशेष चार भक्तिको कहे। ...

---

१ मुनिके पवित्र चरणकमलोंको अर्घ देना सो भी पूजा है।

हे भगवन्! मन वचन कायशुद्धि है और आहार शुद्ध है। हे प्रभो! आहार ग्रहण कीजिये। इसप्रकारकी क्रियाको चतुःशुद्धि कहते हैं।

वाक्कायाशयैर्यत्कृतं स्तोत्रं सेवनमुत्तमम्।
अशनविशुद्धिश्चतुर्दशदोषरहितं हि॥

भावार्थ—मन वचन कायशुद्धि, मनके सर्व संकल्प विकल्प, लोभ परिणाम और शल्यको दूर करनेसे मनशुद्धि होती है क्योंकि लोभपरिणामोंसे संकल्प विकल्पपूर्वक प्रदान किया हुआ दान उत्तम फलका प्रदान करनेवाला नहीं होता है। यही रयणसारमें बतलाया है—

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूण फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहा सवं जाणे॥२६॥

भावार्थ—श्रेष्ठ पुरुषोंका दान कल्पवृक्षके समान शोभाको प्राप्त होता है परन्तु लोभी पुरुषोंका दान प्रेतशय्याके समान है। इसलिये लोभसे मनको मलिन रखकर दान नहीं देना चाहिये।

दान देते समय दाताको कटुक-मर्मभेदी-गर्ह्य और परजीवघातक वचन उच्चारण नहीं करना चाहिये या जिनागमके विरुद्ध वचन, देवशास्त्र गुरुके निन्दाजनक वचन नहीं कहना चाहिये। ये वचन-शुद्धि है।

शरीरकी शुद्धि रखना सो कायशुद्धि है। मन वचन कायसे पात्रको आहार देनेकी विशुद्ध भावना प्रकट करना यह भी मन वचन काय-शुद्धि है।

करणत्रयसंशुद्ध्या कृतं दानं फलं भवेत् ।
तद्वैकल्पात् कृतं दानं विधवाप्रसवो यथा ॥

भावार्थ—मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक ही प्रदान किया हुआ दान उत्तम फलजनक है। मन वचन कायकी शुद्धिसे रहित दान विधवा स्त्रीके प्रसव (पुत्रजन्म) के समान निंद्य है।

क्योंकि—

मनो विनैव कुरुते दानं पात्राय यः पुमान् ।
शिलास्नानमिवाभाति सुवर्णकलशो यथा ॥
यद्वचः कारितं विना दानं तच्चटुकादिवत् ।
यथा तुलाढकः प्रस्थो मनसा कायेन विना ॥
उपरोधादुपालंभाद्भासंते कायदानिनः ।
संक्लेशापशवोभारवाहाः केचिद्यथातथा ॥
मनो वचो विना केचित् भासंते कायदानिनः ।

मनके विना दान देना यह सुवर्ण कलशसे पत्थरका धोना है। मन और शरीरसे रहित दान केवल वचनकी चेष्टा व लीला है। मन वचनसे रहित केवल शरीरसे दान देना केवल उपालंभ दूर करना है अथवा भारको फेंकना है।

सौधर्मादिककल्पेषु भुंजन्ते स्वेप्सितं सुखं ।
मानवाः पात्रदानेन मनोवाकायशुद्धतः ॥
संपदस्तीर्थकर्तॄणां चक्रिणामर्द्धचक्रिणां ।
भजंते दानिनः सर्वाः त्रिशुद्धया भक्तिभावतः ॥

भावार्थ—मन वचन कायकी शुद्धिसे ही दानप्रदाता सौधर्मादिक स्वर्गोंके उत्तम सुखको पात्रदान द्वारा प्राप्त होता है। मन वचन कायकी शुद्धिसे भावभक्तिपूर्वक पात्रको दान प्रदान करनेवाला दाता श्रीतीर्थंकर भगवानकी संपत्ति चक्रवर्ती और अर्द्धचक्रवर्तीकी लक्ष्मीको प्राप्त होता है।

आहारशुद्धि।

जिस प्रकार मन वचन कायकी शुद्धिका उच्चारण शब्दोंके द्वारा किया जाता है उसीप्रकार आहारशुद्धिका उच्चारण भी नवधाभक्तिमें किया जाता है।

जो आहार जीवजंतुओंकी हिंसासे उत्पन्न किया हो, दासी दास आदि अधम मनुष्योंसे बनवाया हो, जोवजन्तुके मांस आदि अशुद्ध द्रव्यसे बनाया हो, मिथ्यादृष्टी और क्रियाको नहीं जाननेवाले मनुष्यने बनाया हो, गलाहुआ सड़ाहुआ हो, विवर्ण विरस दुर्गन्ध दुष्पक्व अपक्व अतिपक्व आदि दोषोंसे लिप्त हो वह अशुद्ध आहार कहलाता है। ऐसे अशुद्ध आहारको मुनिगण ग्रहण नहीं करते हैं इसलिये दाता अपने वचनोंके द्वारा प्रतिज्ञापूर्वक कहता है कि "हे भगवन्! आहार पानी शुद्ध है।" इसप्रकारकी प्रतिज्ञाका करना ही आहार-शुद्धि कहलाती है।

विद्धादिदोषरहितं विशुद्धक्रियाभावतस्तु निष्पन्नं।
निर्दोषं मिथ्यादृगाद्यकृतं तमाहारं शुद्धमाहुराचार्याः॥

विद्धं विवर्णं विरसं धिग्गंधमसत्वमक्लिन्नमपक्वमन्नं।

भावार्थ—विद्धादिदोपरहित, विशुद्धक्रियासे वना हुआ मिथ्या-दृष्टी आदि अयोग्य मनुष्योंसे नहीं वनाया हुआ और सर्वप्रकारसे निर्दोष आहारको शुद्ध-आहार कहते हैं।

मन वचन काय और आहार पानीकी शुद्धिका शब्दों द्वारा उच्चारण करनेके पश्चात् दाताको कहना चाहिये कि "हे भगवन्! भोजन ग्रहण कीजिये, चर्या स्वीकुरु" ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक कहनेपर नवधाभक्ति होती है।

नवधाभक्ति किसकी करनी चाहिये?

इस प्रश्नका समाधान आचार्योंने यही वतलाया है कि पात्रकी नवधा भक्ति होती है। पात्रके तीन भेद हैं और उन तीनों पात्रकी तारतम्य अवस्थासे यथायोग्य और यथानुरूप भक्ति की जाती है।

असलमें भक्ति शिष्टतापूर्वक—शिष्टाचारसे योग्य विधिपूर्वक विनयादिकभावोंको व्यक्त करनेकेलिये की जाती है यही अभिप्राय नवधा-भक्तिका है।

व्यवहारमें भी कोई शिष्ट पुरुष या साधर्मी पण्डित, अथवा सगा सम्वन्धी महिमान (पाहुना) अपने घरपर आता है तव उसको भी शिष्टाचार पूर्वक कहते हैं कि आइये आइये इस पलंग कुर्सी दरी

खिन्नं शंवूकमतीवपक्वं नेत्राप्रियं यन्मुनये न दद्यात्॥

भावार्थ—विवर्ण, विरत, गला सड़ा दुर्गंधयुक्त अक्लिन्न अतिपक्व अपक्व देखनेसे वीभत्स अन्न मुनिको नहीं देना चाहिये।

आदि उच्च आसनपर बैठिये २ विनयसे शिष्टाचारपूर्वक हाथ जोड़तेहुये यह क्रिया समस्त गृहस्थ करते हैं, पश्चात् उस साधर्मी भाईसे स्नान करनेकेलिये निवेदन करते हैं। यहांपर पात्रमें सातिशय पूज्यता है इसलिये पादप्रक्षालन क्रिया जाता है ३, फिर भोजनकी प्रार्थना करते हैं कि चलिये भाईजी भोजन करिये, यदि अपने घरपर शुद्ध नहीं है या ब्राह्मण आदि मिथ्यादृष्टीसे बनायाहुआ है तो उस साधर्मी भाईकेलिये शुद्ध भोजन स्वयं तैयार कर कहते हैं कि आपकेलिये रसोई अलग शुद्ध बनी है ४ भोजन परोस दिया जाता है तब उसको फिर कहते हैं कि जीमिये इसप्रकार नवधाभक्तिके प्रायः समस्त व्यवहार साधर्मी सगासंबंधीके साथ नित्य करते हैं यह धार्मिक शिष्टाचार है।

यदि यह धार्मिक शिष्टाचार गृहस्थ अपने साधर्मी भाईके साथ नहीं करे तो वह गृहस्थ उद्धत गर्विष्ठ मूर्ख व अयोग्य समझा जाता है इसीप्रकार पात्र तो परमपूज्य है उसकेलिये धार्मिक शिष्टाचार विधि-पूर्वक करना ही चाहिये। यह बात दूसरी है कि जघन्य पात्र सम्य-ग्दृष्टीकी नवधाभक्तिमें दाताके भावोंमें दाताके शिष्टाचारमें मुनिकी अपेक्षा पूर्णरूपता नहीं है।

दाताके परिणामोंमें मुनिके प्रति जो पूज्यभाव है वह ऐलक प्रति नहीं है, ऐलकप्रति जो पूज्यभाव है वह क्षुल्लकप्रति नहीं है, इसप्रकार ब्रह्मचारी :पाक्षिक श्रावकपर्यन्त भिन्न भिन्न पात्रके गुणोंकी अपेक्षा भावोंमें यह परिणति रहती है। दान तो तीनों ही प्रकारके पात्रको देना चाहिये और दान विनयके साथ शिष्टाचारपूर्वक ही दिया जाता है। जिस दानमें विनय व शिष्टाचार नहीं है वह दान ही नहीं है।

इसलिये दाता मुनिको मुनिके भाव देखकर नवधाभक्ति करता है। ऐल्लकको दान देते समय ऐल्लकके भाव रख कर नवधाभक्ति करता है। आर्यिका क्षुल्लिका ब्रह्मचारिणी तथा पाक्षिक साधर्मी सम्यग्दृष्टो पाक्षिक-को जिसका जैसा रूप है, जैसा पद है, जैसी योग्यता है उसको वैसा ही अपने भावोंमें समझ कर नवधाभक्ति करता है इसप्रकार भक्ति तो सबकी की जाती है; परन्तु दाताके भावोंमें और भक्तिकी क्रियामें तारतम्य अवस्था रहती है।

यदि अपने महिमान (सगासंबंधी) के साथ एक क्षुद्र नाई आया हो तो उसका भी विनय व शिष्टाचार किया जाता है अन्यथा वह भोजन ही नहीं लेता परन्तु गृहस्थके भाव महिमानके साथ अन्य है और नाईके प्रति अन्य होते हैं।

"भावकी रूखी भली विन भावे नहिं स्वाद"

यह कहावत स्पष्टरूपसे बतलाती है कि भावभक्ति पूर्वक रूखी रोटीमें भी अमृत है और विना भावभक्तिके अमृतमें भी स्वाद नहीं है इसलिये सम्यग्दृष्टीको तीनों प्रकारके पात्रोंको भावभक्तिसे आहारदान देना चाहिये

आगममें भी तीनोंप्रकारके पात्रोंकी यथोचित भक्ति करना स्पष्ट-रूपसे बतलाया है। हां; यह बात दूसरी है कि दाता ऐल्लकको मुनि समझ कर नवधाभक्ति करेगा तो वह उसका अज्ञान समझा जायगा। इसीप्रकार पाक्षिक श्रावकको उत्तम पात्र समझ कर नवधाभक्ति करेगा तो भी अज्ञान ही है, परन्तु ऐल्लकको ऐल्लक समझ कर दाता अपने

अभ्यंतर परिणाम और बाह्यक्रियासे नवधाभक्ति अवश्य ही करेगा तब ही दाताको सम्यग्दृष्टी कहेंगे अन्यथा वह मिथ्यादृष्टी है।

जो दाता ऐल्लकको मध्यम पात्र समझ कर भी अपने भावोंसे ऐल्लकके योग्य नवधाभक्ति नहीं करे तो वह दाता नियमसे मिथ्या-दृष्टी है।

नवोपचारविधिना पात्रदानं विधीयते।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रं त्रिविधमिष्यते॥

(दानशासन)

भावार्थ—नवधाभक्तिसे ही पात्रको दान दिया जाता है। पात्र जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट तीनप्रकार हैं।

नवधा दीयते दानं पात्रेषु त्रिविधेष्वपि।
भक्त्या शुभफलप्राप्तिस्तस्माद्भक्तिं समाचरेत्॥

भावार्थ—तीनों प्रकारके पात्रोंको नवधाभक्तिपूर्वक दान दिया जाता है क्योंकि भक्तिसे ही शुभ फलकी प्राप्ति है इसलिये भक्तिपूर्वक ही दान देना चाहिये।

सर्वेषामेव पात्राणां नवधाभक्तिरिष्यते।
यथायोग्यं यथापात्रं दानकाले विधिर्मता॥

---

१ सर्वेषामेव पात्राणां जिनाचरणसंभृतां।
नवोपचारविधिना दानं देयं यथाक्रमं॥१॥

भावार्थ—तीनों प्रकारके समस्त पात्रोंकी यथायोग्य और यथारूप (पात्रका जितना पद है तदनुकूल) नवधाभक्ति करनी चाहिये क्योंकि दान समयमें नवधाभक्ति दानकी ही विधि मानी है।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्राणां गुणशालिनां।
नवधा दीयते दानं यथायोग्यं सुभक्तितः ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनादि गुणविशिष्ट तीनों प्रकारके पात्रोंको यथा-योग्य नवधाभक्तिसे दान दिया जाता है।

यदि दाता नवधाभक्तिसे दान नहीं देवे तो दाताके पुण्यकी हानि होती है।

नवधा विधिना दानं देयं त्रिविधपात्राय।
विधिमुत्क्रम्ये देयेऽत्र बहुपुण्यहानिः स्यात् ॥

भावार्थ—इस छंदमें बतलाया है कि नवधाभक्तिसे दान दिया जाता है। जो विधिका उल्लंघन करता है उसके पुण्यकी हानि होती है।

यथायोग्यं यथारूपं पात्रं दृष्ट्वा सुधीर्मुदा।
दानं देयं महोत्साहै नवधाभक्तितत्परः ॥२॥

भावार्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका पालन करनेवाले तीनों प्रकारके पात्रोंको यथायोग्य और यथानुरूप दान नवधाभक्तिसे देना चाहिये ॥१॥ जैसा पात्र हो उसी पात्रके पदानुकूल नवधाभक्तिसे दान देना चाहिये ॥२॥

इसलिये नवधाभक्ति तीनों प्रकारके पात्रकी होती है; परन्तु मुनिके-लिये पूर्ण नवधाभक्ति की जाती है और ऐल्लक क्षुल्लक आदिकी नवधाभक्ति की जाती है। आर्यिकाकी नवधाभक्ति पूर्णरूपसे की जाती है। क्षुल्लिकाकी भी नवधाभक्ति होती है अवशेष प्रतिमाधारक व पाक्षिक श्रावककी यथायोग्य भक्ति की जाती है। दशमी प्रतिमा धारककेलिये आह्वान करना, १ उच्चस्थान देना २, जलसे पांव धुलाना ३, विनयसे हाथ जोड़ कर ४ मन वचन कायशुद्धि और आहार पानी शुद्ध है ग्रहण कीजिये ऐसा नियमपूर्वक कह देना चाहिये। सातवीं आठवीं नवमी प्रतिमाधारककेलिये निमंत्रणपूर्वक उपरोक्तप्रकारसे नवधाभक्ति करना चाहिये। प्रथम दर्शनप्रतिमासे छह प्रतिमाधारककेलिये निमंत्रणपूर्वक आहार पानी शुद्ध है आदि भक्ति करनी चाहिये इसीप्रकार जघन्य पात्रकेलिये भी भक्ति की जाती है।

क्षुल्लकको अर्घ चढ़ाना या नहीं ?

क्षुल्लककी नवधाभक्ति अर्घपूर्वक ही होती है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रमाणपूर्वक पुराणग्रन्थोंमें मिलते हैं—

अथ स प्रियधर्मनामधेयं परमाणुव्रतपालनप्रसक्तं।
यतिचिन्हधरं सभान्तरस्थः सहसा क्षुल्लकमागतं ददर्श ॥
प्रतिपत्तिभिरर्थपूर्वकाभिः स्वयमुत्थाय तमग्रहीत् खगेन्द्रः।
यतयो न खलु चितज्ञतायां मृगयंते महतां परोपदेशं ॥७८॥

(चन्द्रप्रभचरित्र पत्र ५४ आचार्य वीरनंदीकृत)

इन दोनों श्लोकोंको (जो प्रति निर्णयसागरकी छपी है) हमने विचार किया तो इनमें हमें अशुद्धि मालूम हुई अतएव इन दोनों श्लोकोंकीटीका अति प्राचीन ऐल्लक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन मुम्बईसे मगवाई वह अक्षरशः (अविकलरूपसे) उद्धृत करते हैं—

प्रत्तिपत्तिभिरिति—खगेन्द्रः खगानां विद्याधराणां इन्द्रः प्रभुः स्वयं उत्थाय-सिंहासनादुत्थाय अर्घपूर्विकाभिः पूजायोग्यं द्रव्यं पूर्वं पुरःसरं यासां ताभिः प्रतिपत्तिभिः सत्कारैः तं प्रियधर्माणं अग्रहीत् अपूजयत्। महतां महापुरुषाणां यतयः उचितज्ञतायां परोपदेशं परेषां उपदेशं न मृगयंते नान्वेषयंति मृगि अन्वेषणे लट् खलु व्यक्तं अर्थान्तरन्यासः।

सं० टीकामें इसप्रकार अर्घ पाठ है और छपी पुस्तकमें अर्थ पाठ है। एक लिखी पुस्तकमे भी अर्घ पाठ है कर्णाटक चन्द्रप्रभमें भी यही भाव है।

भावार्थ—उत्कृष्टरूपसे पंचाणुव्रत पालन करनेवाला [और यतिरूप (पीछी कमंडलु सहित) प्रियधर्मा नामके क्षुल्लकको सभामें आतेहुए

---

१ अर्थपूर्विकाभिः इस पाठका कोई अर्थ भी नहीं निकलता है वास्तवमें यह पाठ ही अशुद्ध है। 'अर्घपूर्विकाभिः प्रतिपत्तिभिः' यही पाठ ठीक है सार्थक है।

देख कर उस विद्याधरने अपने सिंहासनसे स्वयं उठ कर भक्ति द्वारा पूजा की द्रव्यसे अर्घपूर्वक उस क्षुल्लकको पूजा की।

इसप्रकार जब क्षुल्लककेलिये नवधाभक्तिमें पूजा द्रव्यसे अर्घपूर्वक पूजा की तो ऐल्लकको पूजा स्वयमेव सिद्ध है। दूसरे इसी श्लोकमें 'प्रतिपत्तिभिः' यह शब्द भी पूजा करनेके अर्थको ही प्रगट करता है फिर यह निःशङ्करूपसे स्पष्ट मानना पड़ेगा कि क्षुल्लक ऐल्लक आदिका पादप्रक्षालन व अर्घपूजा नियमितरूपसे नवधाभक्तिमें की जाती है।

इसीप्रकार पद्मपुराणमें क्षुल्लककी पूजा बतलाई है। अन्य ग्रन्थोंमें भी क्षुल्लकादि पात्रोंकी पूजा करनेके उल्लेख मिलते हैं।

मुनिगण आहार किस कारणसे ग्रहण करते हैं?

मुनियोंने जब समस्त वस्तुका परित्याग कर दिया है और शरीरसे भी सर्वथा ममत्वभाव नहीं है, तब मुनिगणोंको आहार ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है?

सकल परमात्मावस्थाको प्राप्त ऐसे अरहंत भगवानके परमौदारिक शरीरको छोड़ कर अवशेष शरीरको धारण करनेवाले समस्त संसारी जीवोंको शरीरकी स्थिति आयुपर्यन्त स्थिर रखनेकेलिये व अपघात जनित आर्त रौद्रादिरूप अनंतसंसारके कारण वीभत्स परिणामोंसे बचनेकेलिये नियमपूर्वक आहार ग्रहण करना ही पड़ता है। अन्यथा अपघातसे अनंतकालपर्यन्त दुर्गति होती है।

कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखं॥

भावार्थ—आहारसे शरीरकी स्थिति होती है, शरीरकी स्थिति होनेसे ही जीव ज्ञानको प्राप्त करता है, ज्ञानकी प्राप्तिसे कर्मोंका नाश होता है और कर्मोंके नाशसे ही अनंत अविचल आत्मीयसुख प्राप्त होता है इसलिये आहारको ग्रहण कर मुनिगणोंको भी शरीरकी स्थिति कायम रखनी पड़ती है।

शरीररूपी गाड़ीमें रत्नत्रयरूप गुण भरे जा रहे हैं और उन गुणरूपी रत्नोंको अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) तक गाड़ी द्वारा ही ले जाना है इसलिये गाड़ीकी स्थिति और गति कायम रखनेकेलिये गाड़ीको ओंगुण (आहार) अवश्य देना चाहिये अन्यथा रत्न नष्ट हो जायंगे।

ततोऽस्वमतिरित्यासीद्यतिचर्या प्रबोधने।
कायस्थित्यर्थनिर्दोषविश्राणान्वेषणं प्रति॥
अहो भग्नाः महावंशावतामी नग्नसंयताः।
मार्गप्रबोधनार्थं च मुक्तेश्च सुखसिद्धये॥
कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोधुना।
न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षिभिः॥
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः।
वशे यथास्यु रक्षाणि नो विधावंत्यनूत्पथं॥
तथा प्रयतितव्यं स्यात् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमां।
दोषनिर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः॥
प्राणसंधारणायायमाहारः सूत्रदर्शितः।

कायक्लेशो यतस्तावन्न संक्लेशोस्ति यावता ॥
संक्लेशो ह्यसमाधानं मार्गात्प्रच्युतिरेव च ।
शिष्यैः संयमयात्रापास्तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः ।
ग्राह्यो निर्दोषमाहारो रससंगाद्विनर्षिभिः ॥
(आदिपुराण)

भावार्थ—समस्तप्रकारकी सर्वोत्कृष्ट शक्तिके धारक भगवान श्रीऋषभदेवको यतिचर्या (आहारग्रहण) का समस्त जनताको ज्ञान करानेकेलिये और अपने शरीरकी स्थितिकेलिये निर्दोष आहारकी गवेषणा करनेकी बुद्धि हुई। भगवानने विचार किया कि ये महान उत्तम जाति और कुलके उत्पन्न हुए और महान शक्तिके धारक ये चार हजार राजा केवल एक आहारके विना चारित्रपथसे भग्न हो गये क्योंकि इनको यतिचर्याका परिज्ञान नहीं था उसके विना क्षुधाकी दुस्सह परीषहको जीतनेमें असमर्थ होकर मार्गसे भ्रष्ट हो गये। इसलिये यतिचर्याका मार्ग प्रकाश करना चाहिये, क्योंकि आहारचर्यासे ही मोक्षकी सिद्धि होती है। अतएव कायकी स्थितिकेलिये आहार ग्रहण करनेकी चर्या सबको बतलानी चाहिये।

जिस शरीरसे रत्नत्रयकी साधना होती है उस शरीरको स्थिर रख कर पूर्णरूपसे रत्नत्रयकी साधना इस शरीरसे करनी चाहिये इसीलिये इस शरीरकी स्थितिको आहार अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये। मुमुक्ष जीवोंको आहारके विना शरीरको कृश कर (क्षीण कर) रत्नत्रयसे भ्रष्ट होना ठीक नहीं है

मुमुक्षु जीवोंको यह भी ध्यानमें रखना चाहिये। आहार शरीर पोषणकेलिये नहीं हैं इसलिये वशीकरणादि उत्तम रस मिष्ट और पुष्ट भोजन दाट दाटके करें; किन्तु विरागभावसे जिसप्रकार मन और इन्द्रियां अपने वशमें रह कर धर्मध्यानमें तल्लीन बनी रहें, क्षीण होकर धर्मध्यानका विघात न करें इसप्रकार आहार ग्रहण करना चाहिये। मध्यमवृत्तिसे कार्य करना चाहिये।

उपवास करना यह उत्तम है परन्तु सतत उपवास कर आर्त रौद्र परिणामोंसे घात करना ठीक नहीं है इसलिये उपवास दोषोंको दूर करनेकेलिये हैं;परन्तु प्राणोंकी रक्षा या नियमित धारणाकेलिये आहार ग्रहण करना ही चाहिये।

कायक्लेश परम तप है इसलिये उसकी सिद्धिकेलिये उपवासादि कर कायक्लेश करना चाहिये। इसप्रकारके विचारवालोंकेलिये यही अच्छा है कि जबतक परिणामोंमें संक्लेश भाव न हों तबतक उपवासादि द्वारा कायक्लेश करना ही चाहिये। यदि मर्यादातीत कायक्लेश किया तो परिणामोंमें असावधानता होगी जिससे सन्मार्गका नाश और आत्मघात होगा।

संयमरूपी यात्राको पूरी करनेकेलिये शिष्योंको शरीरकी स्थितिकी इच्छा करनी चाहिये और इसीलिये निर्दोष शुद्ध आहार रस विना महर्षिगणोंको ग्रहण करना चाहिये ऐसा निश्चय विचार कर भगवान श्रीऋषभदेवने योग समाप्त कर चर्याकेलिये विहार किया। इसप्रकार आहार ग्रहण करनेके कारण संक्षेपसे बतलाये।

दानके भेद प्रभेद।

आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और वसतिका दान इसप्रकार दानके चार भेद हैं। आहारदानका स्वरूप संक्षेपसे लिखा जा चुका है।

औषधदान।

मुनिगण और मध्यम जघन्य पात्रकेलिये उनकी प्रकृति योग्य औषध शुद्ध व निर्दोष बना कर देना सो औषधदान है। आहार-दानकी अपेक्षा औषधदान महान् पुण्यजनक है क्योंकि रोगसे पीड़ित पात्र किसी भी प्रकारसे रत्नत्रय साधन करनेमें समर्थ नहीं होता है। इसलिये औषधदान देना सर्वोत्कृष्ट है

उववासवाहिपरिसम किलेस परिपीडियं मुणेऊणं।
पच्छं सरीरजोग्गं भेसहदाणं वि दायव्वं॥

(वसुनंदी श्रा०)

भावार्थ—उपवास, व्याधि, परिश्रम और कायक्लेश तपसे पीड़ित मुनिगणादि पात्रोंको देख कर उनके योग्य पथ्य और औषधी देना चाहिये।

शास्त्रदान।

मुनिगण और मध्यम जघन्य पात्रको ज्ञानकी प्राप्तिकेलिये शास्त्र लिखवा कर प्रदान करना ज्ञानदान है। अथवा जिनागमके सिद्धांतोंका पठन पाठन जिन पाठशालाओंमें होता है और जिन पाठशालाका उद्देश्य एक जैनागमका ही उद्योत कर वास्तविक रूपसे आगमके माहात्म्यसे

ही जीवोंको सन्मार्गमें लगानेका है उन पाठशालाओंमें दान देना चाहिये। जिन विद्यालय या वोर्डिङ्गोंसे आगमके विरुद्ध चलनेवाले, चारित्र और धर्मको नहीं माननेवाले, आगमके अर्थका विपरीत मन-माना अर्थ कर आगमका ही नाश करनेवाले और देवशास्त्रगुरुकी आज्ञाके विरुद्ध विचार रख कर देवशास्त्रगुरुकी पवित्रताको नष्ट करने वाले, मिथ्याभावोंको धारण करनेवाले लोग उत्पन्न होते हों तो ऐसे विद्यालय व वोर्डिङ्गोंमें दान नहीं देना चाहिये। क्योंकि—

विषयारम्भपुष्ट्यर्थं कदाचारविवर्द्धनं।
प्रतिष्ठार्थं दीयते यत्तद्दानं राक्षसं विदुः॥

जो दान विषयकषायकी पुष्टिके लिये दिया जाता हो अथवा कदाचारका प्रचार करनेके लिये दिया जाता हो या अपनी मान बड़ाईके लिये दिया जाता हो वह राक्षसदान है।

यत् सन्मार्ग विलोपार्थं मिथ्यामतविवर्द्धये।
मानार्थं दीयते यत्र तद्दानं राक्षसं विदुः॥

भावार्थ—जिस दानसे सन्मार्गका लोप होता हो, मिथ्यामतकी वृद्धि होती हो अथवा मान बड़ाईके लिये दिया जाता हो। वह राक्षस-दान है।

इसलिये जिस दानसे (ज्ञान दानसे) जैनधर्मका लोप, आगमका विपर्यय, और सदाचारकी हानि होती तो ऐसे स्थानोंमें दान नहीं देना चाहिये। ऐसे दानको कुदान कहते हैं।

जसकीत्तिपुण्णलाहे देइ सुवहुणं पि जत्थ तत्थेव।
सम्माइसुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥

(रयणसार)

भावार्थ—यश* कीर्ति प्रतिष्ठा गौरव और वाह्य पुण्यके लिये जहां तहां धर्माधर्मका विचार किये विना विपुल धन देनेवाले हैं परन्तु सम्यक्त्वादि गुणोंकी वृद्धिवाले पात्रको नहीं जानते हैं। दान आत्म-कल्याणके लिये सम्यक्त्त गुणवाले पात्रको ही देना चाहिये। सात्विक दान ही सबको देना चाहिये।

आतिथेयं स्वयं यत्र यत्र पात्रपरीक्षणं।
गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सात्विकं विदुः ॥

भवार्थ—;जिस दानमें अतिथिसेवा स्वयं की जाती हो और पात्रकी पहचानकर सम्यक् पात्रमें ही जो दान दिया जाता है और जिस दानमें श्रद्धादिक गुण—आगमानुसार क्रिया और धर्मकी वृद्धि होती हो वह सात्विक दान है।

---

* यद्दात्मवर्णनं प्रायं क्षणिकाहार्य विभ्रमं।
परप्रत्ययसंभूतं तद्दानं तापसं विदुः ॥

जिस दान देनेका अभिप्राय केवल :आत्मप्रशंसाके ही लिये या अपने मनोकल्पित क्षणिक विचारोंकी पुष्टिके लिये अथवा अन्य किसी भी व्यक्तिकी विवशताके लिये होता है वह तामस दान है।

दानके लिये विशेष वक्तव्य ।

द्रव्यलिंगीको आगममें कुपात्र बतलाया है। जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है वह द्रव्यलिंगी है। सम्यग्दर्शन आत्माका अमूर्तीक गुण है। अमूर्तीक गुणोंकी व्यक्तता जीवोंके आत्मपरिणामोंमें होती है। आत्मपरिणामोंकी पहचान सर्वावधि व मनःपर्यय आदि ज्ञानोंके सिवाय अन्यको होती नहीं है। इसीलिये कौन द्रव्यलिंगी है कौन भावलिंगी है इसकी पहिचान किस प्रकार की जाय और दान किसको दिया जाय ?

समाधान—यद्यपि सर्वसाधारण मतिज्ञान धारक जीवोंको द्रव्यलिंगीकी पहिचान नहीं होती है। तो भी द्रव्यलिंगीके विचार और आचरणोंसे प्रायः पहिचान हो सकती है जीवोंके विचार आगमसे विपरीत मिथ्यात्वभावरूप जिस समय होते हैं या उनका यह दान आगमसे विपरीत होता है उस समय उनके आचरण भी आगमके विरुद्ध मनमाने हो जाते हैं। ऐसे आगमसे विरुद्धाचरणी जीवोंको सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

देवगुरुधम्मगुणचारितं तवसारमोक्खगइभेयं ।
जिनवरवचणसुदिट्ठि विना दीसइ किह जाणए सम्मं ॥

(रयणसार)

भावार्थ—देव गुरु धर्मके गुणोंका श्रद्धान जिनागमके अनुकूल आचरण तप और मोक्ष गतिकी प्राप्तिकी क्रिया है वह सम्यग्दृष्टी है क्योंकि सम्यग्दृष्टीके बिना अन्य किसी भी मनुष्यके विचार और

आचरण आगमके अनुकूल नहीं होते हैं। आचरण और विचारोंसे ही सम्यग्दर्शन प्रकटरूपमें दीखता है।

इसलिये जिनके आचरण और विचार आगमके विरुद्ध हैं वे द्रव्यलिंगी हैं। ऐसे द्रव्यलिंगीको दान देनेमें कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि उनके परिणामोंमें मिथ्यात्वभावकी परिणति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये जिनके आचरण और विचार आगमके अनुकूल और आगमकी दृढ़ श्रद्धा सहित हैं उनको ही सम्यग्दृष्टी समझकर दान देना चाहिये। जो मार्गानुसारी होकर दृढ़श्रद्धानी है वही सम्यग्दृष्टी है। भगवान्‌के परमागममें उसीको दान देना बतलाया है। भावोंकी परीक्षा करना असंभव है इसलिये दानकी प्रवृत्तिमें आत्म-परिणामोंकी परीक्षा नहीं होती है।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण।

भावार्थ—पात्रको भोजन (आहार दान) देनेसे गृहस्थ धन्य होता है। आहार देनेमें पात्र अपात्रकी विशेषताकी परीक्षा करना आगममें सर्वथा नहीं बतलाई है। पात्र अपात्रकी परीक्षा आहारदानके लिये नहीं करना चाहिये।

"आहारदाने तु का परीक्षा तपस्विनां।"

(पंडितप्रवर आशाधरजी)

आहारदानकेलिये तपस्विगणोंकी क्या परीक्षा करनी चाहिये?

क्योंकि द्रव्यलिंगी और भावलिंगीकी परीक्षा होना असंभव है और परीक्षा हो भी नहीं सकती है। यदि गृहस्थ परीक्षा करनेमें ही लगा रहे तो परीक्षा पूरी कदापि होगी नहीं और दान देनेका अवसर कदापि किसी कालमें भी प्राप्त नहीं होगा। इस जिनरूपको धारण करनेवाले, जिनागमकी श्रद्धा रखनेवाले और जिनागमके अनुकूल आचरण पालन करनेवाले पात्रोंको सम्यग्दृष्टी ही समझना चाहिये। चतुर्थकालमें मुनियोंकी परीक्षा आहारदानकेलिये नहीं की जाती थी। जिनरूप-लिंगधारीको आहारदान दिया जाता है परन्तु जिनके आचरण और विचार आगमके विरुद्ध हैं वह दान देने योग्य कदापि नहीं है।

भ्रष्ट होनेका मार्ग।

यति ब्रह्मचारी आदि क्यों भ्रष्ट होते हैं ? और किसप्रकार भ्रष्ट हो जाते हैं ? जैनधर्म निवृत्तिमार्ग है, जैनधर्मको पालन करनेवाले भव्य-जीवोंके ममत्व मोह और अहंकार-भावका ह्रास स्वयमेव होता है इसी-लिये सबसे प्रथम वे अपनी आत्माकी उन्नतिकेलिये ही सतत प्रयत्न करते हैं और जिन जिन कारणोंसे आत्माका हित होता है वह वह कार्य वे करते हैं। ऐसे भव्य मुमुक्षु जीव संसारके जीवोंकी तरफ दृष्टिपात न रखकर और अपनी मान बड़ाई व अहंकारके लिये भी अपने लक्ष्यका किसीप्रकार भी परित्याग नहीं करते हैं। उनको संसारके जीवोंका मोह-ममत्व नहीं है इसलिये उनकी स्पृहा भी उनके सर्वथा नहीं है न किसीप्रकारकी आकांक्षा या स्वार्थसिद्धिका भाव है इसलिये उनका ध्येय एक केवल आत्महित करना रहता है। वे अपने हितके सामने

अन्य जीवोंके हितकी परवाह नहीं करते हैं, वे आत्महिंसाके सामने अन्य हिंसाकी कीमत कुछ भी नहीं समझते हैं, वे अपनी आत्मोन्नतिके सामने जगतके भौतिक पदार्थोंकी उन्नतिको तुच्छातितुच्छ समझते हैं। वे राज्यकी प्राप्ति व स्त्रीरत्नादिकी प्राप्तिको भी आत्मीय-सुखके सामने निरर्थक समझते हैं। वे दूसरोंके उपकारके सामने अपना ही आत्माका उपकार करना उत्तम समझते हैं, इसलिये वे लौकिक जनोंका सहवास कदापि नहीं करते हैं। लोगोंके मनरंजनार्थ धर्मविरुद्ध आचरण नहीं करते हैं। लोग खुश हो जावें और मेरी प्रतिष्ठा करें इस इरादेसे कदापि धर्मविरुद्ध मिथ्या उपदेश नहीं देते हैं, और विषय-कषायोंकी वृद्धिकेलिये पापोंका प्रचार नहीं करते हैं इसीलिये बतलाया है कि 'आदिहिदं कादव्वं' भावार्थ—सबसे प्रथम अपनी आत्माका हित करना चाहिये। तीर्थंकरोंने भी अपना आत्महित पूर्णरूपसे कर पीछे परोपकार किया था।

जो अपनी प्रतिष्ठाकेलिये विषयकषायकी पुष्टिकेलिये धर्मविरुद्ध पापोंका प्रचार करते हैं। लोगोंके मनरंजनार्थ लौकिकजनोंका सहवास करते हैं और परोपकारकेलिये अपनी आत्माके उपकारको जलांजलि देते हैं वे ही भ्रष्ट हो जाते हैं, ब्रह्मचारी भ्रष्टाचारी हो जाते हैं और लोगोंको कुमार्गमें पटक कर स्वयं पापकार्योंमें लिप्त हो जाते हैं।

लोइयजणसंगादो होइ यइ मुहरकुडिलदुब्भावो।
लोइयसंगं जह्मा जोइ वि तिविहेण मुंचा हो ॥

(रयणसार)

भावार्थ—लौकिकजनोंकी संगतिसे यति भी अधिक बोलनेवाले

और कुटिल भावोंको धारण करनेवाले होजाते हैं। इसलिये लौकिक-जनोंकी संगति मन वचन कायसे परित्याग करनी चाहिये।

स्वसन्मानादिपुष्ट्यर्थं यो लौकिकजनं श्रयेत्।
स्वकर्त्तव्यं परित्यक्त्वा विषयेषु स धावति॥

भावार्थ—अपनी मान बढ़ाई और स्वार्थसिद्धिकेलिये जो साधु अपने कर्तव्योंका परित्याग कर लौकिकजनोंका आश्रय लेते हैं, अपनी आत्माके उपकारको छोड़कर केवल परोपकार करनेमें ही लग जाते हैं वे विषयोंमें पड़ जाते हैं।

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचित्ता॥
(रयणसार)

भावार्थ—जो अपने शरीरके ममत्वभावसे अनुरक्त हैं, विषय-कषायोंमें अनुरक्त हैं, परन्तु अपनी आत्माके हित (स्वभाव) में अनुरक्त नहीं हैं वे साधु सम्यक्त्वसे रहित मिथ्यादृष्टी भ्रष्ट हैं।

हाणादाणवियारवि हीणदो वाहिरक्खसुक्खं हि।
किं तजियं किं भजियं किं मोक्खू दिट्ठं जिणदिट्ठं॥

भावार्थ—जिसको अपनी आत्माके हिताहितका विचार नहीं है और वाह्य (बाहर) इन्द्रियोंके सुखमें ही अनुरक्त है उसने जिन-लिंगको धारण कर क्या-छोड़ा तो क्या सम्यक्चारित्रको ग्रहण किया? और ऐसी हालतमें उसको मोक्षकी प्राप्ति किसप्रकार होती है।

एक्कु खणं णवि चिंतइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसाहावं।
अणुसुवि चिंतइ पावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ॥

भावार्थ—जो यति या ब्रह्मचारी मोक्षकी प्राप्तिकेलिये अपनो आत्माके हितका एक क्षण भी विचार नहीं करते हैं और रात्रि दिवस संसार और विषयोंको वृद्धिकेलिये ही वहुत प्रयासपूर्वक प्रयत्न करते हैं, उपदेश देते हैं, लेख लिखते हैं और मनसे निरंतर पापका ही विचार करते हैं, वे भ्रष्ट हैं।

मिच्छामइमयमोहा सवमचो वोल्लए जहा भुल्लो।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं॥

(रयणसार)

भावार्थ—जिसप्रकार भूला हुआ (विस्मृत मनुष्य) स्वेच्छाचार पूर्वक वोलता है, सत्यासत्यका विचार नहीं करता है उसीप्रकार जो यति या ब्रह्मचारो मिथ्यात्वभावके उदयसे भ्रमितवुद्धि होकर अधर्मको धर्म, व्यभिचारको शील, पापको पुण्य, अनीतिको नीति, असदाचारको सदाचार और मिथ्यामार्गको सन्मार्ग कहता है परन्तु वह अपनी आत्माके सच्चे हितको नहीं जानता है और न आत्माके पवित्र भावोंको जानता है तथा इसीकारणसे वह यति या ब्रह्मचारी भ्रष्टाचारी वन जाता है।

क्लिन्नमशुद्धं विरसमसेव्यमागमविरुद्धम्।
शूद्रपतितसंस्पष्टमन्नं गृह्णाति स्वच्छंदः॥
शूद्रजनेन च पक्वं दासीदासेन पक्व हि।
क्रियानभिज्ञेन पक्वं सहिंसकमयोग्यं च॥
लोभेन च मोहेन च विषयसुखार्थं चान्नं।
भक्षयत्यविवेकी स यतिः सम्यक्त्वोन्मुक्तः॥

भावार्थ—जो यति अशुद्ध विरस असेव्य और आगमविरुद्ध शूद्र तथा पतित (जातिच्युत) के हाथसे स्पर्श किये हुए आहारको ग्रहण करता है वह स्वेच्छाचारी है।

शूद्रके हाथसे पकाया हुआ, दासी दासके हाथसे पकाया हुआ, क्रियाको नहीं जानने वाले (विशुद्ध कुल जातिवाला और जैन) के हाथसे पकाया हुआ, त्रस जीवोंकी हिंसापूर्वक पकाया हुआ और अयोग्य आहारको जो साधू विषयसुखकी लंपटताकेलिये लोभ और मोहभावोंसे भक्षण करता है वह अविवेकी है, सम्यक्त्वरहित है।

न वांच्छन्यत आयुर्वा स्वादुं वा देहपोषणं।
केवलं प्राणधृत्यर्थं संतुष्टो ग्रासमात्रया॥

(आदिपुराण)

जो यति आहारसे आयुकी कामना नहीं करता, स्वादका अनुभव नहीं करता, देहकी पुष्टि नहीं चाहता है, केवल प्राणोंको धारण करनेके लिये लेता है वह ग्रासमात्रमें संतोषको प्राप्त होता है।

मुनि किस प्रकारके भावोंसे भोजन ग्रहण करते हैं?

उयरग्गिसमणमक्खव मक्खणगोयारसब्भपूरणभमरं।
णाऊण तप्पयारे णिच्च एवं भुंजए भिक्खु॥

(रयणसार)

भावार्थ—असातावेदनीय और चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे जीवोंको क्षुधाकी जाग्रति होती है इसीलिये शरीरमें एकप्रकारकी

ऐसी भयंकर आकुलता उत्पन्न होती है कि जिससे शरीरकी स्थिति अपने स्वरूपमें नहीं रहनेकेलिये बाध्य हो जाती है। इन्द्रिय मन तथा विचारोंमें भी कुटिल लालसा प्रकट हो जाती है, आर्त रौद्ररूप परिणाम हो जाते हैं। इसप्रकारके आर्त रौद्ररूप परिणामोंको रोकनेके-लिये और शरीरकी स्थिरताकेलिये संयमी सिंहवृत्तिसे चर्या स्वीकार करते हैं। वे समझते हैं कि इस उदराग्निको शमन किये विना परि-णामोंमें आर्त रौद्र परिणाम और इन्द्रिय तथा मनकी चपलता शांत नहीं होगी। इसको शांत करनेकेलिये और अपने आत्मस्वभावमें स्थिरता प्राप्त करनेके लिये भोग्य पदार्थोंके स्वादका ध्यान न रख कर और इन्द्रियोंकी लालसाकेलिये सुन्दर और मिष्ट पदार्थोंका विचार न रखकर, विषयकषायोंकी भावना न रखकर, किसीप्रकारके राग-भावोंको न रखकर, भोग्य पदार्थोंके द्वारा सुखका अनुभव न रख कर, केवल उदराग्निको शमन करनेकेलिये और असातावेदनीयके तीव्रोदय-जनित भावोंको उपशमन करनेकेलिये शुद्ध भोजन अयाचितवृत्तिसे प्राप्त हुआ भोजन नवधाभक्तिसे विधिपूर्वक प्राप्त हुए भोजनको दीनतारहित स्वीकार करते हैं और जो सरस अथवा नीरस सुन्दर वा असुन्दर पदार्थ मिला उससे उदराग्निको शांत करते हैं।

कदाचित् लाभांतरायके उदयसे भोजनकी प्राप्ति नहीं हुई तो भी खेदभावको नहीं धारण करते हैं, असुन्दर और निस्वादु नीरस पदार्थों-को ग्रहण करतेहुए भी अपने पूर्वकालके उत्तम भोगे हुए भोगोंका स्मरण कर अपने परिणामोंमें ग्लानि नहीं करते हैं न मलिन परिणामों-को करते हैं और न मनमें विकारभावको धारण करते हैं।

जिसप्रकार गाड़ीमें रत्न भरे हों और उस गाडीको अपने अभीष्ट स्थानमें ले जानेकेलिए गाडीमें ओगुण (धुरामें तेल लगाना) लगा कर मनुष्य अपना कार्य सफल करते हैं। इसीप्रकार मुनिगण भी रत्नत्रयसे भरी हुई शरीररूपी गाड़ीको अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) में ले जानेकेलिये आहारका ओगुण देते हैं जिससे शरीररूपी गाड़ी निराबाधपूर्वक अभीष्ट स्थान (मोक्ष) तक पहुंचानेमें समर्थ होती है।

जिसप्रकार गाय घास तृण भक्षण कर शरीरसे उत्तम और स्वादिष्ट दुग्ध संपादन करती है इसीप्रकार मुनिगण भोग्य पदार्थोंकी सुन्दरता और असुन्दरता व सरस नीरस आदिका विचार न कर मात्र शुद्ध आहारको अयाचित-वृत्तिसे ग्रहण कर उत्तम रत्नत्रयको संपादन करते हैं।

जिसप्रकार भ्रमर पुष्पोंकी सुन्दरता और असुन्दरताका विचार न कर और पुष्पोंको कष्ट न देकर अपना मनोरथ सफल कर लेता है इसीप्रकार मुनिगण दाताको किसीप्रकारका कष्ट न देकर और अयाचित-वृत्तिसे भक्तिभावपूर्वक प्रदान किया हुआ शुद्ध प्रासुक आहारको ग्रहण कर अपने मनोरथ (मोक्षकी प्राप्ति) को सफल कर लेते हैं।

जिसप्रकार एक गर्त्त (गढ़ा) पत्थर बालू रेतसे भरकर जनता अपना कार्य करती है। गढ़ामें सुन्दर रेत ही भरना चाहिये ऐसा विचार नहीं करती है उसीप्रकार मुनिगण जो सुन्दर वा असुन्दर शुद्ध पदार्थ अपने लाभान्तरायके क्षयोपशमसे प्राप्त हुआ उसको ग्रहण कर पेटरूपी गर्त्तको भरकर अपना रत्नत्रयकी प्राप्तिका कार्य सिद्ध कर लेते हैं। सुन्दर स्वादिष्ट-सरस मनोहर पदार्थोंकी आकांक्षा नहीं करते हैं और न किसीप्रकारका राग द्वेष करते हैं।

जिसप्रकार बोझ (भार) लादनेवाले मजूरको भाड़ा देकर रत्नकी पोटली अपने घरपर पहुंचाई जाती है उसीप्रकार शरीररूपी मजूरको आहारका भाड़ा देकर रत्नत्रयकी पोटली अपने मोक्ष स्थानको पहुंचाई जाती है।

जिसप्रकार कर्जदारको कर्ज देकर व्यापारी सुखको प्राप्त होता है इसीप्रकार मुनिगण भी अपने शरीरको कर्ज (आहार) देकर निरा-कुलताके साथ परम सुख (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

भोग्य पदार्थोंको भोगते हुए भी मुनिगण उन भोग्य पदार्थोंके भोगनेके द्वारा सुखका अनुभव नहीं करते हैं। रागभाव नहीं करते हैं। विषयोंकी लालसा नहीं करते हैं।

कोहेण य कलहेण य जायण सीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं वितरो भिक्खू ॥

(रयणसार)

भावार्थ—क्रोध, कलह और संक्लेश परिणामोंसे जो भोजन करता है अथवा मांगकर जो भोजन करता है, रौद्रभाव या रोषभावसे भोजन करता है वह यति नहीं है पात्र नहीं है किन्तु व्यंतर है।

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो ।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू ॥

(रयणसार)

यह शरीर अत्यंत दुखका कारण है। कर्मबंधका भी कारण यह शरीर ही है और यह शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न है तो भी शरीरसे

ही धर्मके समस्त अनुष्ठान सिद्ध किये जाते हैं। शरीरके विना संसारी प्राणी धर्मानुष्ठान करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं इसलिये मुनिगणको भी शरीरका पोषण करना चाहिये।

दिव्वुत्तरणसारित्थं जाणिच्चाहो धरेइ जइ सुद्धो।

भावार्थ—हे मुनिवर! यह तेरे हाथमें आहारका पिंड दिव्य नाव है यदि शुद्धतापूर्वक इन्द्रियोंके विजयार्थ ग्रहण करे तो।

संजमतवझाणज्झय विण्णाण ए गिण्हएपडिग्गहणं।
वच्चइ गिण्णइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं॥

भावार्थ—प्रतिग्रहण—आहारचर्या संजम तप ध्यान, अध्ययन और विज्ञानकी प्राप्तिकेलिये की जाती है यदि लोलुपतावश केवल इन्द्रियोंके पोषणार्थ और विषयकषायकी वृद्धिकेलिये की जाय तो वह चर्या दुःखकी कारण होती है। इसलिये—

भुंजइ जहा लाइं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं।
झाणज्झयणणिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गखो॥

(रयणसार)

जो शुद्ध आहार सरस वा नीरस जैसा प्राप्त हुआ उसको रागादिक भावोंसे रहित ज्ञान संयम ध्यान और अध्ययनके निमित्त ग्रहण करता हुआ मुनि मोक्षमार्गमें पूर्णरूपसे तल्लीन है।

णवि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण विय किंचि जायंति।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता॥ ५१॥

(मूलाचार)

मुनिगण भिक्षाकेलिये किसी सद्गृहस्थको किसीप्रकारकी प्रशंसा नहीं करते हैं; न भिक्षाकेलिये किसीसे भी याचना करते हैं किन्तु अयाचक सिंहवृत्तिसे भोजन ग्रहण करते हैं, मौनसहित भोजनकेलिये भ्रमण करते हैं और भोजन भी मौनसहित ही ग्रहण करते हैं।

देहीति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वोत्तुं।
अविणीदि अलाभेण ण य मोणं भंजदे धीरा ॥५२॥
(मूलाचार)

मुनिगण कभी किसीसे ऐसी याचना नहीं करते हैं कि एक ग्रास-मात्र आहार दीजिये ऐसी दीन भाषाका उच्चारणतक नहीं करते हैं। मुझे पांच सात दिवस विना आहारके हो गये हैं अतएव अव तो मुझे कुछ भी दीजिये इसप्रकार भी दीन वचन नहीं बोलते हैं। यदि आप भोजन न दंगे तो मैं मरा, मैं रोगग्रस्त हूं इसलिये आहारके विना मैं प्राणांत हो जाऊंगा ऐसा भी कभी किसीसे नहीं कहते हैं न ऐसी भावना ही करते हैं। यदि भोजनका अलाभ हुआ तो पुनः भोजनकेलिये उसी दिवस वार वार प्रयत्न नहीं करते हैं न मौनका परित्याग ही करते हैं।

पयणं पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति।
पयणारम्भंणियट्टवि संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण ॥

पचनं स्वेनौदनादिनिर्वर्तनं, पाचनं स्वोपदेशेन अन्येन निर्वर्तनं न कुर्वंति नापि कारयंति मुनयः। पचनारंभान्निवृत्ता दूरतः स्थिताः संतुष्टा भिक्षामात्रेण कायसंदर्शनमात्रेण भिक्षां पर्यटंतीति।

भावार्थ—मुनिगण स्वयं अपने मन वचन कायसे अन्न नहीं पकाते हैं, न दूसरोंसे पकानेकेलिये उपदेश ही करते हैं, न किसीको प्रेरणा करते हैं, इसलिये मुनिगण पचनक्रियाके आरम्भसे सर्वथा रहित भिक्षा ग्रहण करते हैं।

मुनिगण प्रासुक, शुद्ध और अधःकर्म दोपरहित आहार ग्रहण करतेहुए भी स्वतः व शुद्धतापूर्वक भोजन करते हैं।

असणं जदि वा पाणं खज्जं भोज्जं च लिज्ज पेज्जं वा।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु ॥

मुनिगण अशन भात दालादि पदार्थ, पेय, दुग्ध, पानी आदि पदार्थ, खाद्य लाडू आदि पदार्थ, भोजन रोटी आदि, लेह्य चाटनेयोग्य पदार्थ आदि समस्त पदार्थको अपने हाथरूपी पात्रमें ही अच्छेप्रकार शोध कर ग्रहण करते हैं।

यत् भवति अविवर्ण प्रासुकं प्रशस्तं तु एषणाशुद्धं।
भुंजंते पाणिपात्रे लब्ध्वा च गोचराग्रे ॥

मुनिगण भोजन समपाद खड़े होकर और हाथोंको जोड़ कर दिवसमें एक वार ही श्रावकके घर प्रासुक, शुद्ध, उत्तम और निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं।

दान कैसा देना ?

सीदुण्हं वाउ पिउलं सिलेसमं तह परीसमं वाहि।
कायक्लेसुव्वासं लाणिच्चा दिण्णए दाणं ॥

(रयणसार)

भावार्थ—पात्रकी प्रकृति शीत उष्ण वात पित्त श्लेष्म परिश्रम व्याधि कायक्लेश उपवास और पात्रकी अवस्थाको जान कर आहार वैसा ही देना चाहिये।

हिय मिय मण्णं पाणं निरवज्जो सहि णिराउलट्ठाणं।
सयणासण मुवयरणं जाणिच्चा देइ मोक्खरवो॥

भावार्थ—हितमित अन्न पान निरवद्य औषधी निराकुल स्थान योग्य निर्जंतु शयनासन और योग्य उपकरणको जान कर देना चाहिये।

मधुरं हृद्यं खाद्यं नेत्रप्रियं सरससुगंधसंयुक्तं।
संतोषकरं सुखकरं निद्रातंद्रालस्यहरं चाहारं।
देयं विधिना रम्यं शुद्धं सोत्साहपूर्वकं भव्यैः॥

भावार्थ—आहार मधुर, हृद्य, नेत्रोंको प्रिय, सरस, सुगंधयुक्त, निद्रा, तंद्रा और आलस्यको दूर करनेवाला महामनोज्ञ आहार देना चाहिये।

आहारमें समस्त पदार्थ अचित्त ही देना चाहिये। फलादि वस्तुओं-को अचित्त बना कर ही देना चाहिये। दूध, दही, घी, शक्कर, तक्र, मोदक, पूरी, घेवर, खाजे, दाल, भात आदि श्रावकके भक्षण करनेयोग्य पदार्थ मुनिको देना चाहिये।

मुनिचर्या व मुनिमुद्रा।

मध्याह्नसमये योगी कृत्वा सामायिकं मुदा।
पूर्वस्यां तु जिनं नत्वा ह्याहारार्थं व्रजेच्छनैः॥
पिच्छं कमण्डलुं वामहस्ते स्कंधे तु दक्षिणम्।

हस्तं निधाय संदृष्टया स व्रजेच्छ्रावकालयम् ॥
गत्वा गृहांगणे तस्य तिष्टेच्च मुनिरुत्तमः।
नमस्कारान पदान् पंच नववारं जपेच्छुचिः।
तं दृष्ट्वा शीघ्रतो भक्त्या प्रतिग्राहैत भक्तिकैः ॥

(धर्मरसिक ग्रन्थ ६९-७०-७१)

भावार्थ--मध्यान्ह समयमें योगीगण सामायिक आदि आवश्यक कार्योंको परिपूर्ण कर नगरमें चर्याकेलिये जाते हैं। सामायिकके पश्चात् पूर्वदिशाकी तरफ मुख कर श्रीजिनेन्द्रदेवको परोक्ष नमस्कार कर चर्याकेलिये विहार करते हैं। गुरु आज्ञाको शिरसा वंच कर चर्याके लिये विहार करते हैं। शुद्धि करके ही चर्याकेलिये विहार करते हैं।

विहारके समय जव ग्राम समीप आता है तव या श्रावक लोगोंके घर समीप आ जाते हैं तव मुनिगण अपने पोछी कमंडलुको वाम हस्तसे ग्रहण करता है और दक्षिण हाथको कमलाकार वना कर अपने दक्षिण हाथ कंधेपर धारण करता है। इसप्रकार दक्षिण हाथको कमलाकार अपने दक्षिण कंधेपर रखनेको आहारचर्या मुद्रा कहते हैं। मुनिगण आहारकेलिये विहार करते समय नियमसे मुद्रा धारण करते हैं। यदि मुनिगण मुद्राके विना चर्यार्थ विहार करैं तो समझना चाहिये कि वे आगमकी मर्यादाका उलंघन करते हैं।

मुनिगण श्रावकके आंगण (चौक) तक चले जांय। जहांतक अन्य गृहस्थको किसी भी कारणसे रुकावट न हो वहांतक अवश्य ही मुनिगण जा सकते हैं।

गृहस्थके आंगणमें मुनिगण जा कर नव वार णवकार मंत्रका जाप करें तबतक ठहरें इतने समयमें यदि श्रावक मुनिगणको देख कर नवधा-भक्तिसे पड़गाहन कर लेवे तो चर्या स्वीकार कर लेवें अन्यथा दूसरे घरपर इसीप्रकार चले जांय।

इसप्रकार चर्याके समय मुनिगण नियमपूर्वक मुनिमुद्रा धारण करते हैं। यदि किसी कारणविशेषसे मुनि अपनी आहारकी मुद्राको छोड़ देवे या आहारचर्या मुद्रा छूट जाय तो मुनिके अंतराय हो जाता है। उस दिवस मुनिगण फिर आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

आहारकी मुद्राको सिद्धभक्तिपर्यंत रखना पड़ता है। आहारके-लिये व्रतपरिसंख्यान व नवधाभक्ति पूर्ण हो जानेपर आहार ग्रहण करनेके प्रथम क्षणमें आहारमुद्राका परित्याग किया जाता है।

यदि किसी भी कारणसे नवधाभक्तिमें त्रुटि हुई या आहारमें दोष दृष्टिगत हुआ अथवा जंतु कीट आदि प्रगट हो गये तो वह मुनि उसी मुद्रासे अन्यत्र जा सका है परन्तु मुद्राके परित्याग करनेपर पुनः आहारका ग्रहण नहीं हो सक्ता है

मुनिचर्याका विशेष वर्णन।

सामायिकादि षट् आवश्यक कार्यों के समयको छोड़कर मुनिचर्या-का समय होता है। सूर्योदयसे तीन नालिका (तीन घड़ी) पश्चात् मुनि चर्याकेलिये विहार कर सकते हैं।

सूर्योदयके प्रथम ही ध्यान सामायिकादिककी समाप्ति कर सूर्योदयके पश्चात् देववंदना, गुरुवंदना, आचार्यवंदना कर दो घड़ी दिवस चढ़नेके

बाद श्रुतभक्ति गुरुभक्तिका पाठ कर और स्वध्यायको विधिपूर्वक समाप्त कर मध्याह्नकालके दो घड़ीके प्रथम समयमें ही एकांत निर्जंतुक स्थानमें शौचादिक (मलमूत्रादिक) से निवृत्त हो कर अपने समस्त शरीर को पीछीसे प्रमार्जन कर स्वरोदयसे शकुन विचार कर, हस्त पाद मुखा-दिककी शुद्धिकर प्रतिक्रमण पाठ तथा कायोत्सर्ग धारणकर हाथमें पीछी और कमंडलु ग्रहण कर चर्याके लिये विहार करते हैं।

चर्याके लिये गुरुकी आज्ञा लेकर वंदना करते हैं।

चर्याके लिये मौनपूर्वक ईर्यासमितिसे गमन करते हैं। चर्याके लिये गमन अतिशय मंदतापूर्वक, व अतिशय वेगस्वरूपसे नहीं करते हैं। दृष्टिपात चारों तरफ नहीं करते हैं। अमीर दरिद्र आदिके घरका विचार नहीं करते हैं। मार्गमें बात नहीं करते, न ठहरते हैं। नीच कुलके गृहोंमें प्रवेश नहीं करते। सूतक पातकादि दोषोंसे दूषित शुद्ध और उच्च कुलके गृहोंमें प्रवेश नहीं करते हैं। द्वारपालादिकके निषिद्ध करनेपर प्रवेश नहीं करते हैं।

श्रावकके गृहमें जितने क्षेत्रमें अन्य भिक्षुक या साधारण मनुष्य बिना रोक टोक जा सके वहांतक प्रवेश करते हैं।

जिस स्थानमें जानेसे विरोध होता हो वहांपर गमन नहीं करते हैं। गधा, ऊंट, भैंस आदि बाधाकर जीवोंसे दूरसे ही बचकर गमन करते हैं। मदोन्मत्त और पागल आदिसे बचते हुए गमन करते हैं।

मार्गमें स्नान करती हुई हास विलास करती हुई स्त्रियोंको नहीं देखते हुए गमन करते हैं।

अपना वृत्तिपरिसंख्यानकी प्राप्ति होनेपर या नगरमें प्रवेश करनेपर मुद्रा धारण करते हैं।

मुद्रा धारण करनेका यह अभिप्राय है कि मुनिगणोंका विहार गांव और गृहोंमें चर्याके कारण भी होता हैं और विशेष कार्य प्रसंग आने पर भी होता है। श्रावकोंको यह कैसे ज्ञात होवे कि मुनि चर्याकेलिये विहार कर रहे हैं अथवा किसी विशेष अभिप्रायसे ? जैसे अभयसेन मुनिने पुष्पडाल मुनिको सन्मार्गमें स्थितिकरण करनेके लिये विहार किया था। मुनिराजोंको अपने घरमें प्रवेश करते हुए देखकर अभय-सेनकी माताने विचार किया कि ये दोनों ही मुनिराज चर्याके लिये तो आते हुए नहीं दीखते हैं क्योंकि इनने चर्याकी मुद्रा धारण नहीं की है फिर क्या मेरा पुत्र मुनि अवस्थासे पतित होकर आ रहा है। इस प्रकारके विचारसे माताने दोनों मुनिराजोंके परिणामोंकी परीक्षार्थ सराग और वीतराग दोनों ही प्रकारके उच्च आसन रखे। जब वे दोनों ही मुनिराज वीतराग आसनपर विराजमान हो गये तब माताको निश्चय हुआ कि ये दोनों ही मुनिराज किसी विशेष कारणसे आये हैं।

मुद्रा धारण करना यह चर्याका सूचक चिह्न है। मुद्राको देखते ही श्रावक जान लेते हैं कि स्वामी चर्याके लिये ही विहार कर रहे हैं, इस लिये पड़गाना चाहिये। जिस प्रकार तिलक यज्ञोपवीत आदि चिह्नों-को देखकर मुनिगण विचार कर लेते हैं कि यह श्रावक है।

प्रत्येक कार्यमें मुद्रा भिन्न होती है। यदि किसी मुनिको अयोग्य कार्यके लिये संघसे दो तीन दिवस बाह्य रहनेकी आचार्यने आज्ञा दी हो तो वह मुनि पीछी उलटी रखेगा इससे अन्य मुनिको निश्चय हो जाता है कि ये दण्डित मुनि है इसलिये मुनिगणोंको चर्याकेलिये मुद्रा धारण करनी पड़ती है।

चर्यार्थ गमन करते समय जब श्रावकके घर समीप आवे तब मुद्रा धारण करना चाहिये। मुद्रा धारण करनेका अभिप्राय यह है कि श्रावक लोगोंको ज्ञात हो जावे कि मुनि चर्यार्थ ही आ रहे हैं, नहीं तो वारिषेण मुनिका नगरमें प्रवेश देखकर उनको माताको वीतराग आसन और सराग आसन रखकर अनेक प्रकारकी तर्कणायें क्यों करनी पड़ी थीं और मुद्राके विना ऐसी तर्कणायें होती हैं इसलिये आगममें मुनि ऐलक क्षुल्लक आर्यिकाके लिये मुद्रा बतलाई हैं।

मुद्रां धृत्वा सुमौनेन चेर्यापथसुपूर्वकं।
चरेच्चर्यार्थं स ज्ञानी लाभालाभे समानधीः ॥

यदि मुनिगण मुद्रासहित आते हों तो समझना चाहिये कि चर्याके लिये आ रहे हैं इसलिये प्रतिग्रह करना चाहिये।

मुनिकी मुद्रा—मुनिच्चर्याके समय अपना दाहना हाथ कंधेपर रखते हैं। ऐलक अपना दाहिना हाथ हृदयपर रखते हैं। क्षुल्लक भी अपना हाथ कमलाकार हृदयपर रखते हैं।

मुनिगण नवधा विधिकी पूर्णता होनेपर सिद्धभक्ति पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। आहार ग्रहणकर मुख पाद हस्त आदि अवयवोंको शुद्ध प्रासुक जलसे प्रक्षालनकर आहारकी निष्ठापनक्रिया कर नियम धारण-कर भक्ति पढकर कायोत्सर्ग विधान कर कमंडलुको जलसे भरवा कर विहार करते हैं।

मुनिगण समपाद रखकर और अंजुली हाथोंकी रखकर ही आहार ग्रहण करते हैं। मुनिके आहार करते समय समपाद चलित हो जावे या

पाणिपुट विघट जावे तो अंतराय हो जाता है। मुनि तीन मुहूर्त्त पर्यंत आहारचर्या कर सकते हैं।

मुनिका आहार व ग्रास

मुनिको आहार देते समय इतना ही ग्रास रखना चाहिये कि जिसका शोधन अच्छी तरह दोनों मुठ्ठीमें हो सके और वे मुनि उस ग्रासको एकवारमें खा सकें। यह नहीं कि एकवार हाथमें रखे हुए आहारके पांच चार अथवा अधिक ग्रास बनाकर खाते रहें। इस प्रकारकी क्रिया ठीक नहीं है। ग्रास बहुत ही स्वल्प रखना चाहिये। आहार देनेके प्रथम सबसे पहले तीन अंजुलिप्रमाण जल देना चाहिये जिससे मुनिके मुखकी शुद्धि होती है।

आहार कितना ग्रहण करना चाहिये? मुनियोंके आहारके विषयमें कितना ही अज्ञान हो रहा है। लोग समझते हैं मुनिको बत्तीस ग्रास ही आहार पानी दिया जाता है इसलिये बहुत ही बड़े बड़े दो तीन रोटी के ग्रास बनाकर मुनिके हाथमें रख देते हैं। मुनि इतने बड़े ग्रासका शोधन किसी प्रकार नहीं कर सकते हैं और न इतने बड़े ग्रासको एक वारमें ही मुखमें रखकर ग्रहण ही कर सकते हैं इसलिये मुनिको आहारकी चर्या अंतरायवाली आगमके विरुद्ध और विषम हो जाती है।

कितने ही यह समझते हैं कि एक ग्रास आहारका और एक ग्रास पानीका देना चाहिये। इस प्रकार सोलह ग्रास आहार व सोलह ग्रास पानी हो गया परन्तु यह क्रम ठीक नहीं है, रोगोत्पादक और आगमके विरुद्ध है।

असलमें बत्तीस ग्रासका मतलब यह है कि एक साधारण मनुष्य-की खुराक सामान्यरूपसे कच्चा अन्न आधा सेर या पौन सेर है, उसका पककर कितना ही हो जाय यह बात दूसरी है। इतना अन्न ग्रहण करनेपर तृप्ति और संतोष हो जाता है।

आगममें बतलाया है कि एक ग्रासका वजन एक हजार चावलोंके बराबर है। ऐसे बत्तीस ग्रासमें चावलोंका जितना वजन (तोल) होना हो वह सामान्यरूपसे मनुष्यकी खुराक हो जाती है। इन बत्तीस ग्रासों (एक ग्रासके हजार चावलोंका वजन सवा तोलासे अधिक होता है और बत्तीस ग्रासके चावलोंका वजन अनुमान नौ छटांक पक्का होता है इतने कच्चे धान्यका बनाया हुआ अन्न पूर्ण अस्तन होता है, इसमें पानी संमिलित नहीं है) इससे एक ग्रास हो कम लिया जाय तो वह ऊनोदर हो जाता है। यह नियम भी साधारण है। आहारचर्या उदरपूर्तिको बतलाई है। जितने अन्न पानीसे मुनिके उदरकी पूर्ति हो जावे, मुनिके परिणामोंमें संतोष और तृप्ति हो जावे उतना हो आहार पानी ग्रहण किया जाता है। यदि स्वल्प आहारमें ही संतोष हो जावे तो अधिक नहीं लेना चाहिये परन्तु इतना आहार ग्रहण नहीं करे जिससे प्रमाद तंद्रा निद्रा आलस और शरीरको विवशता प्राप्त हो जाय जिससे ध्यान और अध्ययनमें बाधा हो, षट् आवश्यक कर्म छूट जावें और इन्द्रियोंको शक्ति उन्मत्त हो जावे। *

---

* बत्तीसा किरकवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एक (ग) कवलादिहिं तत्तो ऊणिय गहणं उमोदरियं ॥१५३

आहार देनेकी क्रियामें विचार।

आहार देते समय इस प्रकार आहार देना चाहिये कि जिससे रस परित्याग वस्तुका स्पर्श दूसरो वस्तुमें नहीं हो जावे। ग्रास इस प्रकार देना चाहिये कि जिससे ग्रास अपने हाथसे नीचे न गिरजावे अथवा मुनिगणके हाथसे न गिर जावे। वर्तन आदि भी नीचे नहीं गिर पड़े ऐसी सावधानी रखनो चाहिये।

सचित्त अचित्त संबंध न हो, रससे रसांतरका संबंध न हो, अशुद्धताका परिज्ञान न हो, स्वयं शोधनक्रिया न होसके और पात्रसे भी शोधन क्रिया न होसके इसप्रकार आहार नहीं देना चाहिये।

टीका—द्वात्रिंशत्कवलाः पुरुषस्य प्रकृत्याहारो भवति। ततो द्वात्रिंशत्कवलेभ्यः एककवलेनोनं द्वाभ्यां त्रिभिः इत्येवं यावदेककवलः शेषः एक सिक्थो वा किल शब्द आगमार्थसूचकः आगमे पठितमिति—एक कवलादिभिर्नित्यस्याहारस्य ग्रहणं यत् सावमौदर्यवृत्तिः। सहस्रतंदुलमात्रः कवलः आगमे पठितः द्वात्रिंशत्कवलाः पुरुषस्य स्वाभाविकआहारस्तेभ्यो यन्नूनं ग्रहणं तदवमौदर्यं तप इति ॥

भावार्थ—मनुष्योंका पूर्ण भोजन बत्तोस ग्रासका होता है उससे एक दो तोन दस बोस तीस वा इकतीस ग्रास कम लेनेपर अवमोदर्य तप होता है अर्थात् एक ग्राससे लेकर इकतीस ग्रास लेनेतक अवमोदर्य तप होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि एक हजार चावलोंका एक ग्रास होता है ऐसे बत्तीस ग्रास ग्रहण करनेसे पूर्ण भोजन समझा जाता है।

पेय वस्तु (पानी दूध औषधि क्वाथ तक्र आदि) की आवश्यकता समझ कर भोजनके मध्यभागमें अवश्यही देना चाहिये।

यदि वृद्ध या रोगी मुनि हों तो उनके योग्य नरम पदार्थ या मिडी हुई रोटी आदि पदार्थ जिनका कि चर्वण न होनेपर भी ग्रहण कर सकें ऐसो तरकीवसे देना चाहिये।

ग्रास इस तरकीवसे देना चाहिये कि मुनियोंके हाथका स्पर्श नहीं होजावे, इसका पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये। ग्रास विनयसे भक्ति पूर्वकही रखना चाहिये।

इसका कारण यह है कि मुनिको आहार देनेके पश्चात् जिस थालीमें रखकर आहार दान दिया हो उस थालीमें बचा हुआ (अवशेष अन्न) अन्न महान पुण्यका कारण दिव्य अन्न हैं, वह गुरुका प्रसाद है। प्रसाद महान् पुण्य और महान भाग्यसे ही प्राप्त होता है इसलिये उसको घरके समस्त कुटम्बियोंको बांटकर सेवन करना चाहिये। यही आगममें बतलाया है—

जो मुणिभत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुद्दिट्ठं।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाण वरसोक्खं॥

(रयणसार)

भावार्थ—जो भव्यजीव मुनिके आहार देनेमेंसे बचा हुआ अवशेषको गुरुदेवका प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह स्वर्गके सुखको प्राप्त होता है और क्रमसे निर्वाणसुखको भी प्राप्त होता है।

ऋषीणां भुक्तिशेषस्य भोजने स नरो भवेत्।
तुष्टिपुष्टिबलारोग्यदीर्घायुःश्रीसमन्वितः॥

भावार्थ— जो भव्यजीव मुनिको आहारदान देनेके पश्चात् मुनिको परोसी हुई थालीमें बचा हुआ (भुक्ति अवशेष) अन्नको प्रसाद समझ कर सेवन करता है। वह तुष्टि पुष्टि बल आरोग्य दीर्घायु लक्ष्मीका लाभ आदि समस्त सुख-सामग्रीको प्राप्त होता है।

मुनिभक्तावशेषं हि प्रासादमिति यो मत्वा।
भुंक्ते स प्राप्नोति सौख्यं हलभृत्तीर्थकर्तॄणां॥

भावार्थ—जो भव्यजीव मुनिके भोजन करनेसे बचा हुआ (थालीमें बचा हुआ भुक्तिशेष अन्न) अवशेष अन्नको प्रसाद समझकर सेवन करता है वह नारायण तीर्थंकरादिकोंका दिव्य सुख प्राप्त करता है, इसप्रकार आगममें बतलाया है। इसलिये मुनिके आहार देनेके पश्चात् थालीमें बचा हुआ अवशेष अन्नको प्रसाद समझ कर भक्तिभावसे खाना चाहिये।

दानतीर्थकी महिमा।

वृत्तवृद्ध्यै विशुद्धात्मा पाणिपात्रेण पारणं।
समपादस्थितश्चक्रे दर्शयन् क्रियया विधिं॥ १८९॥
श्रेयसि श्रेयसा पात्रे प्रतिलब्धे जिनेश्वरे।
पंचाश्चर्यविशुद्धिभ्यः पंचाश्चर्याणि जज्ञिरे॥ १९०॥
अहोदानमहोदानमहोपात्रमहोक्रमः।
साधुसाध्विति खे नादः प्रादुरासीद्दिवौकसां॥१९१
नेदुरंबुदनिर्घोषाः सुरदुंदभयोऽम्बरे।
दानतीर्थकरोत्पत्तिं घोषयंतो जगत्त्रये॥१९२॥

श्रेयो दानयशोराशिपूर्णदिग्वनितानंनैः ।
प्रोद्गीर्ण इव निश्वाससुरभिः पवनो ववौ ॥ १९३ ॥
श्रेयसा पात्रनिक्षिप्तपुण्ड्रेक्षुरसधारया ।
स्पर्धयेव सुरैः स्पृष्टा वसुधाराऽपतद्दिवः ॥ १९४ ॥
अभ्यर्चिते तपोवृद्धयै धर्मतीर्थकरे गते ।
दानतीर्थकरं देवाः साभिषेकमपूजयन् ॥ १९५ ॥
श्रुत्वा देवनिकायेभ्यः सद्दानफलघोषणं ।
समेत्य पूजयंति स्म श्रेयांसं भरतादयः ॥ १९६ ॥

(हरिवंशपुराण अष्टम सर्ग)

भावार्थ—पवित्रात्मा भगवान श्रीऋषभदेवने पाणिपात्रमें व्रतोंकी वृद्धिके लिये पारणा किया। समपाद स्थिर होकर आहारदानकी विधिको प्रत्यक्ष दिखलाया। श्रेयांस महाराजने आत्मकल्याणके लिये श्रीतीर्थंकर परमदेव जैसे सर्वोत्कृष्ट पात्रको दान दिया जिससे श्रेयांस महाराजके परिणामोंमें अतिशय विशुद्धता प्राप्त हुई और पंचाश्चर्य वृष्टि हुई। देवोंने अहो दान अहो दान यह दानकी महिमा प्रगट की। ये उत्तम पात्र और यह उत्तम आहारकी विधि इस प्रकार घोषण किया तथा साधु साधु ऐसा दिव्य नाद आकाशमें घोषण किया तथा देवोंने तीन जगतमें दानतीर्थकरकी उत्पत्तिकी घोषणा की।

श्रेयांस महाराजने उत्तम पात्र श्रीतीर्थंकर देवको इक्षुका रस दिया था इसलिये रत्नधाराकी वृष्टि हुई।

परम पूज्य श्रीऋषभदेव तपकी वृद्धि के लिये आहार लेकर तपोव-

नमें चले गये तब दानतीर्थको प्रवृत्ति करनेवाले श्रेयांस महाराजका देवोंने क्षीरसागरके दूधसे महा अभिषेक किया और पूजा की और तीन जगतमें प्रसिद्ध किया कि "दानतीर्थके प्रसिद्ध करनेवाले श्रेयांस महाराज आदि तीर्थ हैं" यह दानतीर्थकी महिमा देवोंसे श्रवण कर भरत आदि अनेक महाराज श्रीश्रेयांस राजाकी पूजा करनेके लिये आये और श्रेयांस महाराजकी भावभक्तिसे पूजाकर आश्चर्य भावोंसे दान-तीर्थकी महिमाको श्रवण कर कृतकृत्य हुए।

आश्चर्यपंचकमिदं चिरमंवरस्था देवा विकृत्य परमं परदुर्लभं ते संपूज्य दानपतिमर्जितपुण्यपुंजं..............१

भावार्थ—श्रीमुनिसुव्रत भगवानको वृषभदत्त राजाने कुशाग्रपुरमें आहार दिया था, उसके प्रभावसे वृषभदत्तके गृहमें पंचाश्चर्य देवोंने किये और दानपतिकी पूजा की।

इस प्रकार आहारदानके देनेवालोंको दानतीर्थ दानपति मोक्षमार्ग-प्रवर्त्तक वतलाया है इसलिये दानकी महिमा अपूर्व है।

समस्त दानोंमें आहारदान ही श्रेष्ठ दान है। देवोंने एक आहारदानमें पंचाश्चर्य किये, दानपतिकी पूजा की, अभिषेक किया और दानके प्रभावसे कितने ही मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको प्राप्त हुए। कितनेही उसी भवमें मोक्षगामी हुए और कितने ही स्वर्गसुखको प्राप्त हुए।

भोगभूमिकी प्राप्ति एक आहार दानके प्रभावसे ही होती है। मिथ्यादृष्टी जीव भी उत्तम भोगभूमिको एक आहारदानके प्रभावसे प्राप्त होते हैं तो सम्यग्दृष्टीको आहारदानसे क्या फल प्राप्त होता है यह बात ग्रन्थोंमें स्पष्ट वतलाई है।

दानका फल ।

यह बात आगमसे प्रसिद्ध है और समस्त जैन समाज इसको खूब अच्छी तरह जानता है कि समस्त दानोंमें एक आहारदान ही श्रेष्ठ है यह आहारदान ही मुनिको मोक्षमार्गमें साक्षात् स्थापित कर उसी भवहीमें निर्वाण पद प्राप्त करा देता है तथा उस आहारदानके फलसे दाता भी उत्तम भोगभूमि या स्वर्गपद तप कीये विना हो प्राप्त करलेता है । यह अचिंत्य महिमा एकमात्र आहारदान की है ;

पंचाश्चर्यवृष्टि देवोंने आहारदानमें सर्वत्र की है । पुराणोंमें अगणित कथायें आहार दानके माहात्म्यकी व पंचाश्चर्य प्रभावोत्पादककी बतलाई हैं ।

आहारदानसे दाताको प्रत्यक्षहो संतोष और हर्षकी प्राप्ति होती है इसलिये आहारदानका फल प्रत्यक्ष और जगजाहिर है तो भी आगममें आहारदानका फल सर्वोत्तम और सर्वोत्कृष्ट बतलाया है । महान पुण्य और परिणामोंकी समुज्वलता आहारदानसे ही होती है । कितने ही भव्यजीव आहारदानके फलसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए हैं । कितने ही भव्यजीव आहारदानके फलसे मोक्षके अनुगामी उसी भवमें हुए हैं । इसलिये आगममें औषधदान ज्ञानदान वसतिका दान तथा अन्य दानोंकी अपेक्षा आहारदानका फल सर्वोत्कृष्ट बतलाया है ।

सद्यःप्रीतिकरं दानं महापातकनाशनं ।
न आहारसमं दानं न भूतो न भविष्यति ॥

भावार्थ—आहारदान शीघ्रही प्रीति करनेवाला, महान भयंकर पापोंका नाश करनेवाला है। आहारदानके समान अन्य कोई भी दान नहीं है, न भूतकालमें ही था और न होगा।

सर्वेषामेव दानानामाहारदानमुत्तमं।
आहारं ददता दत्तं मोक्षमार्गं निराकुलम्॥

भावार्थ—समस्त दानोंमें एकमात्र आहारदान ही श्रेष्ठ दान है। जिसने पात्रमें आहार दान दिया उसने निराकुलता पूर्वक मोक्षमार्ग प्रदान किया।

मोक्षमार्गस्य स्थित्यर्थमाहारदानमुच्यते।
मोक्षमार्गस्य संप्राप्तिस्तं ददता साधिता बुधैः॥

भावार्थ—मोक्षमार्गकी स्थितिके लिये आहारदान कहा है। जिसने आहार दान दिया उसने मोक्षमार्गकी प्राप्ति सिद्ध करली।

सुक्षेत्रे विधिवत् क्षिप्तं बीजमल्पमपि व्रजेत्।
वृद्धिं यथा तथा पात्रे दानमाहारपूर्वकं॥

जिस प्रकार अच्छे क्षेत्रमें अल्प ही बीज अद्भुत महान फलोंको प्रदान करता है वेसेही उत्तम पात्रमें विधिपूर्वक दिया हुआ दान उत्तम फलोंको प्रदान करता है।

सत्पात्राय प्रदत्तोऽन्ने स्वशक्त्या भक्तिपूर्वकं।
कुदृष्टिमानवाः केचित् जायंते भोगभूमिजाः॥

भावार्थ—श्रेष्ठ पात्रमें अन्नदान करनेसे मिथ्यादृष्टी भी उत्तम भोगभूमिमें प्राप्त होते हैं।

धान्यं वाहनवस्तुवित्तपितृमातृभ्रातृभार्यात्मजं,
चक्रित्वं सकलं शुभं भवसुखं भुक्त्वा त्रिजन्मान्तरे ॥
निर्वाणं कृतिनां भवेत्तदखिलमाहारदानेन तु,
सौधर्मादिककल्पजं वरसुखं गच्छन्ति तद्दानिनः ॥

भावार्थ—पात्रमें आहारदान करनेवाले भव्य सम्यग्दृष्टी जीव धन धान्य वाहन और राजमहलादिक विभूतिको प्राप्त होते हैं। पिता माता भाई पुत्र और स्त्रीके सुखको प्राप्त होते हैं। चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि लोकोत्तम पदको प्राप्त होते हैं और सौधर्मादिक सुखके भागी होते हैं और समस्त सांसारिक सुखको भोग कर अन्तमें निर्वाणके परम अनन्त अव्यय तथा आत्मोक सुखको प्राप्त होते हैं।

आहारदानतः सम्यग्ज्ञानवृत्तादयो गुणाः।
वृद्धिं यांति यतीशानां यथानंदा सुध्यानतः ॥२४॥

भावार्थ—आहारसे मुनियोंके: सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी वृद्धि होती है और उत्तम ध्यानका अनुभव होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये दाताको भी महान पुण्यकी प्राप्ति होती है।

तस्माद्दत्तो वराहारो येन पात्राय भावतः।
सर्वं यमादिकं तेन दत्तं ज्ञानादिभिः समं॥

० श्रा०)

भावार्थ—इसलिये जो भव्यजीव पात्रको उत्तम आहारदान भावभक्तिसे देता है वह मुनिको शम तप ध्यान कायोत्सर्ग आदि समस्त

मुनिके मार्गको प्रदान करता है। ज्ञानदान और औषधदान भी एक आहारदानसे हो जाता है इसलिये आहारदानकी महिमा सर्वोत्कृष्ट है।*

आहार दानकी महिमा।

धन्यास्ते सद्गृहे येषां समायान्ति मुनीश्वराः।
आहारार्थं महापूज्या इन्द्रचक्रधरादिभिः ॥ ५० ॥

भावार्थ—जिनके गृहमें इन्द्र चक्रवर्ती नारायण प्रतिनारायण महान पुण्यशाली मनुष्योंसे परम पूज्य ऐसे मुनीश्वर आहारकेलिये आते हैं वे सद्गृहस्थ धन्य हैं। पुण्यशाली और भव्य पुरुष हैं। वे ही मोक्षमार्गमें लवलीन हैं।

पात्रदानानुमोदेन तिर्यंचो पि दिवं गताः।
भोगभूमौ सुखं भुक्त्वा परमाह्लादकारण ॥
(स० श्रा०)

भावार्थ—पात्रको आहारदानकी अनुमोदना करने मात्रसे ही तिर्यंच (पशु पक्षी) जीव भी भोगभूमिके उत्तमसुखको भोग कर स्वर्गको प्राप्त हुए।

वारैकदानयोगेन दृष्टिहीना नरा गता।
देवालयं सुभुक्त्वापि भोगभूम्यादिजं सुखं ॥

---

* आहारेण विना किंचित्तपोवृत्तादिकं मुनिः।
अनुष्ठातुं न शक्नोति त्यक्तग्रासो यथा गजः ॥

भावार्थ—आहारके विना मुनि तप व्रत ध्यान आदि कुछ भी नहीं कर सकता है।

भावार्थ—जिस भव्यजीवने एक वार ही पात्रको आहारदान दिया है वह मिथ्यादृष्टी होनेपर भी भोगभूमिके सुखको भोग कर स्वर्गके सुखको प्राप्त होता है इसलिये आहारदानकी महिमा अपरम्पार है।

भजंति पात्रदानेन इन्द्रचक्रधरादिजान्।
दक्षा भोगांश्च लोकेस्मिन् तीर्थराजनिषेवितान् ॥

भावार्थ—पात्रमें आहारदानसे भव्य जीवोंको इन्द्र चक्रवर्ती तीर्थंकर आदिके भोग्य योग्य ऐसे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं इसलिये आहार-दानकी महिमा अपरम्पार है।

किमत्र बहुनोक्तेन पात्रदानप्रभावतः।
भुक्त्वा नृदेवजं सौख्यं यांति मुक्तिं क्रमात् बुधाः ॥

भावार्थ—आहारदानकी महिमाका वर्णन करना असम्भव है। पात्रमें आहारदानके प्रभावसे भव्यजीव नरेन्द्र और देवेन्द्रके उत्तम सुखोंको भोग कर मोक्षके सुखको प्राप्त होता है।

क्रमात् श्रीशांतिनाथोयं जातस्तीर्थंकराह्वयः।
पात्रदानसुपुण्येन कामदेवश्च चक्रभृत् ॥

भावार्थ—पात्रको आहारदानके फलसे श्रीषेणके जीवने भोग-भूमिका सुख देवगतिका सुख भोग कर श्रीशांतिनाथ तीर्थंकरपदकी प्राप्ति की इसलिये आहारदानकी महिमा अवर्णनीय है।

वज्रजंघो नृपो दत्वा चारणाभ्यां सुभावतः।
अन्नदानं क्रमादासीदादिनाथो पि यो जिनः ॥

भावार्थ—वज्रजंघने एक वार ही दो चारण ऋषियोंको भावभक्तिसे

आहारदान दिया था जिसके प्रभावसे वे आदिनाथ भगवान परम तीर्थंकर देव हुए इसलिये आहारदानकी महिमा महान है।

आहारदानके समान पुण्य अन्य किसी कारणसे नहीं होता है।

यादृशं पात्रदानेन महत्पुण्यं भवेन्नृणां।
तादृशं च व्रते नैव जीवघातादिदूषिते॥

भावार्थ—पात्रको आहारदान देनेसे जो महान पुण्यकी प्राप्ति होती है वह व्रत तप करनेसे गृहस्थ अवस्थामें नहीं हो सकती है क्योंकि व्रतादिकके करनेमें जीवबाधा होनेसे हिंसा भी होती है और आहारदानसे परिणामोंमें सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेवाली जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह अन्य किसी कारणसे नहीं हो सकती है।

परिणामोंकी विशुद्धि, चारित्रकी प्राप्ति, गृहकी पवित्रता, द्रव्यकी सफलता, महान पुण्यकी प्राप्ति, मोक्षमार्गकी सिद्धि और मानवजन्मकी सार्थकता एक आहारदानके फलसे जीवोंको स्वयमेव होती है।

औषध दान।

मुनिगण और पात्रको औषधका दान देना चाहिये।

औषधाख्यदानेन नश्येत् रोगकदंबकं।
मुनीनां त्यक्तसंगानां स्वस्थं संजायते वपुः॥

भावार्थ—प्राशुक शुद्ध औषध पात्रको देनेसे रोग नाश होते हैं और मुनिगणका शरीर स्वस्थ होता है जिससे वे ज्ञान ध्यान तपमें लीन होते हैं।

ज्ञान दान ।

ज्ञानदान पात्रमें होता है। अपात्रमें ज्ञानदान देनेसे ज्ञान का दुरुपयोग होता है। वह जीव ज्ञानके बलसे केवल पापकर्ममें ही अपनी बुद्धिका उपयोग करता है और धर्मका नाश करता है।

ज्ञानदान देनेकेलिये पूर्ण विचार करना चाहिये। जिसज्ञानके प्रभावसे संसारी जीव अपने निंद्य आचरण और पापकर्मोंका परित्याग कर संसारके दुःखसे निवृत्त होनेकेलिये जिनागमप्रतिपादित सदाचारको धारण कर आत्मकल्याणमें लग जावे वह ज्ञानदान है।

ज्ञानदानके प्रभावसे यह जीव सत्यस्वरूप आत्मधर्म (जैनधर्म) को धारण कर अपना कर्तव्य, अपना चालचलन, अपना नीति और निर्दोष पापरहित कार्योंमें प्रवृत्ति निर्विकल्परूपसे करने लगता है ऐसा ज्ञानदानका स्वरूप आगममें बतलाया है।

आचारसूचकं सारं मुनीनां गृहिणामपि ।
द्रव्याणां गुणपर्यायभेदाभेदपरूपकं ॥
पूर्वापरविरुद्धादिदोषदूरं विवेकिभिः ।
ज्ञानिनो हि सुपात्राय बुद्धिसंवेगशालिने ।
ज्ञानदानं प्रदातव्यं पुस्तकं वा मुनीश्वरैः ।
गृहस्थैः स्वोपकाराय पात्राज्ञानादि हानये ॥

(स० श्रा०)

भावार्थ—बुद्धि और संवेगको धारण करनेवाले ज्ञानी मुनियोंकेलिये विवेकी गृहस्थोंको ज्ञानदान देना चाहिये। श्रीजिनेन्द्रदेवके

मुखारविंदसे प्रकट होनेवाले गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रको निरूपण करनेवाले द्रव्य गुण पर्यायके द्वारा पदार्थोंके भेदाभेदको प्रकट करने-वाले, पूर्वापरविरोध रहित ऐसे शास्त्र अपने उपकारकेलिये और पात्रके अज्ञानभावको दूर करनेकेलिये देना चाहिये।

ज्ञानदानसे जीव सदाचारी जिनागमके अनुसार अपनी क्रिया करनेवाला, अपने आचरण अपने कर्तव्य पापरहित कार्योंमें लगाने-वाला, पदार्थोंके सत्यस्वरूपको जान कर अपना ध्येय (वीतराग स्वरूपको प्राप्ति) निर्विकल्परूपसे सिद्ध करनेवाला और आगमपर दृढ़-श्रद्धानी होता है। इसलिये सम्यग्ज्ञानको वृद्धि को करनेवाले जिना-गमकी महिमाको प्रकट करनेवाले, जिनागमके सत्य-रहस्यको जान कर निर्मल और पवित्र आचरणकी वृद्धिको करनेवाले ज्ञान और शास्त्रदान देना चाहिये, वह भी पात्रोंको ही दान करना चाहिये।

ज्ञानमें यह खूबी है कि यदि सम्यग्ज्ञानका दान पात्रमें दिया है तो वह सम्यग्ज्ञानसे जिनागम कथित उत्तम चारित्रका पालन कर मोक्ष-मार्गकी वृद्धि कर जगतके जीवोंको निर्मल और पवित्र चारित्रका स्वरूप बतला कर स्वयं संसारसे तरता है और अन्य जीवोंको संसारसे तार (पार) देता है।

यदि मिथ्याज्ञानकी वृद्धि की जाय तो वह ज्ञान* हाथमें दीपक रख कर स्वयं संसार-समुद्रमें गिरता है और अन्य जीवोंको संसार-

---

* सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पडिदं पि।
समणं भट्टचरित्तं ण हु सक्को सुगइ णेदुं।

समुद्रमें गिरा देता है, स्वयं पापी बन जाता है और उस मिथ्याज्ञानसे अनन्त जीवोंको पापी बनाता है। कुमार्गकी वृद्धि करता है, कुज्ञानके बलसे नीच विचार निरन्तर करता है। विषयकषायोंकी वृद्धिमें सुख और आत्मोन्नति मानता है। मलिनाचारमें धर्म और सुख समझता है, दुर्नीति और दुराचारकी तरफ भावना रखता है, निरन्तर ईर्षा द्वेष कलह और मायाचारके विचार करता रहता है जिससे वह जिनागमके पवित्र आचरणोंकेलिये ग्लानि करने लग जाता है। अधर्म (व्यभिचार) को धर्म मानने लगता है, विवेक और विचाररहित मलिन पदार्थोंके सेवन करनेमें धर्म मानने लगता है और इसीलिये जिनागमको ही सत्य नहीं मानता है, वीतराग सर्वज्ञ भगवान प्रणीत स्वीकार नहीं करता है। कदाचित जैनकुलमें जन्म लिया हो तो उस मिथ्याज्ञानके बलसे जैनागमकी पवित्र आज्ञाका लोप करनेका साहस करता है या मनमाना अर्थ कर पर्वतके समान पातकी बनता है।

जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीठो
जदि सिक्खि ऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥

(मूलाचार द्वितीय भाग)

भावार्थ—समस्त श्रुतज्ञान अच्छीतरह पढ़ा हो और जाना हो परन्तु यदि पात्र चारित्रसे भ्रष्ट है तो सुगतिको प्राप्त नहीं हो सकता है। जो दीपक हाथमें लेकर नेत्रवाला मनुष्य जान बूझ कर कूपमें गिर पड़े तो उसको दीपक क्या करेगा इसीप्रकार शिक्षा प्राप्त कर विरुद्ध धर्म आचरण करे तो शिक्षा देनेका क्या फल है ?

इसलिये पात्रमें उत्तम ज्ञानदान देना चाहिये या ऐसी पाठशाला खोलनी चाहिये कि जिससे निर्मल और पवित्र चारित्रकी वृद्धि हो।

बोर्डिङ्ग और स्कूलोंमेंसे निकलनेवाले ज्ञानी प्रायः मिथ्याज्ञानके ही प्रचारक होते हैं। वे जिनागमका नाश कर सत्यधर्मका लोप ही करना चाहते हैं इसलिये ज्ञानदान विचार कर देना चाहिये।

वसतिका दान।

शीतवातादिसंत्यक्ता शून्यगृहमठादिका।
सूक्ष्मजीवादिनिर्मुक्ता कारितादिविवर्जिता॥
स्वभावनिर्मिता सारा देया वसतिकाऽमला।
गृहस्थैः सारपात्राय धर्मध्यानादिसिद्धये॥

(स० श्रा०)

भावार्थ—पात्रोंको धर्मध्यानकी सिद्धिकेलिये शीत वात और उग्गतादि दोषोंसे रहित, सूक्ष्म जीवोंके निवाससे रहित, नीचजन व्यभिचारी लंपट आदि मनुष्योंके आवागमनसे रहित, ऐसी धर्मशाला मठ गुफा और गृह आदि वसतिका मुनिजनोंकेलिये प्रदान करनी चाहिये। इसप्रकार दानके चार भेद हैं।

ये धनाढ्या न सत्पात्रदानं कुर्वन्ति नैव भोः।
व्यर्थं जन्म भवेत्तेपामजाकण्ठे स्तनादिवत्॥

भावार्थ—जो धनाढ्य श्रीमान पुरुष अपनी सामर्थ्यको छिपाकर (अपनी शक्तिको छिपाकर) सत्पात्रमें आहारदान नहीं देते हैं उनका जन्म व्यर्थ है।

दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः ।
तदारूढा निमज्जंति संसाराब्धौ सुदुस्तरे ।

भावार्थ—उत्तम पात्रमें आहारदान नहीं देनेवाले गृहस्थोंका गृह पत्थरके समान व्यर्थ है। संसारसमुद्रमें वे दानहीन श्रीमान् उस पत्थर पर चढकर डूब जाते हैं।

मुनिपादोदकेनैव यस्य गेहं पवित्रितं ।
नैव श्मशानतुल्यं हि तस्यागारं वुधैः स्मृतं ॥

भावार्थ—जिन भव्यजीवोंके गृह श्रीमुनिराजके पवित्र चरणकमलोंसे पवित्र नहीं हुआ है। मुनिराजके पवित्र गंधोदकसे गृह पवित्र नहीं हुआ है वह गृह श्मशानके समान है।

यदि विनात्र दानेन गृहस्था हि भवंति भो ।
सदा खगाः गृहस्थाः स्युर्गृहव्यापारयोगतः ॥

भावार्थ—यदि पात्रमें आहारदान किये विनाही गृहस्थ कहे जावें तो पक्षीगण भी गृहस्थ ही हैं क्योंकि वे सवेरेसे शामतक घरके व्यापारमें ही लगे रहते हैं इसलिये गृहस्थ वही है जो प्रतिदिवस पात्रमें आहारादि दानकर अपने द्रव्यको सार्थक बनाता है और अपने गृहको पात्रकी पद-रजसे पवित्र करता है।

दत्ते दानं न पात्राय यो लोके कृपणो नरः ।
यः स मोहेन मृत्वा हि सर्पादिकुगतिं व्रजेत् ॥

भावार्थ—जो भव्यजीव धन संपत्तिको प्राप्तकर पात्रकेलिये आहारादिक दान नहीं करता है वह कृपण मनुष्य मर कर सर्पादि नीचगतिको प्राप्त होता है।

समर्थो यो महालोभी ददाति मुनये न वै।
दानं पात्रजं शर्म सोपि छिनत्ति चात्मनः ॥

भावार्थ—जो भव्यजीव सवप्रकारकी शक्ति रखने पर और धन संपन्न होकर भी मुनिगणोंके लिये दान नहीं देता है वह अपनी आत्माको ठगता है।

यथोचितं सद्यमवेक्ष्य धार्मिकः, करोति तोषं विनयं न जातुचित्
स एव मूर्खः स च नैव धार्मिको, न च व्रती नो ममयी सुदृक् च न
(दानशासन)

भावार्थ निर्दोष और मूलगुणसे विराजमान योग्य ध्यानाध्ययन सम्पन्न मुनिसंघको देखकर जो जैनी हर्षित नहीं होता है, संघकी विनय नहीं करता है, वंदना स्तुति नहीं करता है और न दान देता है वह अज्ञानी है, वह धर्मात्मा नहीं है, वह व्रती नहीं है, वह जैनी नहीं है और न वह सम्यग्दृष्टी है।

जो मनुष्य मुनिसंघको सर्वगुणसंपन्न और निर्दोष चतुर्थकालके मुनियोंके समान देखकर भी हठसे, अज्ञानसे, दुर्भावसे और मोहके उदयसे श्रद्धा पूर्वक स्तुति वंदना आदि नहीं करता है वह ज्ञानी होकर भी मूर्ख है, व्रती होकर भी अव्रती है, जैनी होकर भी मिथ्यादृष्टी है।

नो शंसति नमंति साधुपुरतः भक्त्या भवेयुर्जडाः।
पश्चाज्जैनजनास्त्रिरत्नसहितान् कुर्वन्त्युपालंबनं ॥

मायाचारधराः जिनागमगुरून् विश्वासमुत्पादयन्।
....॥

भावार्थ—रत्नत्रयके धारक देव शास्त्र गुरुको जो भक्तिभावसे नमस्कार नहीं करते हैं, स्तुति नहीं करते हैं, विनय नहीं करते हैं किंतु पवित्र देव शास्त्र गुरुको अवर्णवाद लगाकर निंदा करते हैं ऐसे जैनी भाई मायाचारके धारण करनेवाले पाखंडी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, जड हैं, जैनधर्मसे बहिर्भूत हैं।

गुरुक्रमोल्लंघनतत्परा ये, जिनक्रमोल्लंघनतत्परास्ते।
तेषां न दृष्टिर्न गुरुर्न पुण्यं वृत्त न बंधुर्नत एव मूढाः॥

(दानशासन)

भावार्थ—जो जैन गुरुकी आज्ञापालन नहीं करते हैं अथवा जो मुनिगणों (गुरु) की आज्ञाका उल्लंघन करते हैं वे श्रीजिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं, वे सम्यग्दृष्टी नहीं हैं, चारित्रवान नहीं हैं, वे धर्मात्मा नहीं हैं. वे पुण्यवान नहीं हैं, उनके न तो कोई गुरु है (निगुरा हैं) न बंधु है वे मात्र मिथ्यादृष्टी हैं। नाममात्रके जैन हैं परन्तु वास्तविक वे जैनधर्मके द्रोही हैं।

जिनधर्मं जिनगुरुं, जिनागमं जिनं च यो व्यतिक्रमते।
स निंदकः स पापी मिथ्यादृष्टी स च दीर्घसंसारी॥

भावार्थ—जो जैन जैनधर्मके सत्य और पवित्र स्वरूपको बिगाड़ कर अन्य प्रकारसे मलिन करता है, जो सर्वोत्कृष्ट गुरुके स्वरूपका अन्यथा प्ररूपणा करता है, गुरुमें अन्यथा मलिनभाव रखता है।

जो जिनागमके पवित्र और सत्यस्वरूपको मनमानी कल्पना या तर्कसे बदलता है-अर्थका अनर्थ करता है और जो श्रीजिनदेवके परम वीत-राग निर्ग्रन्थ स्वरूपका व्यतिक्रम करता है (दिगम्बर श्वेतांबर सबको एकसमान गिनकर श्रीजिनेन्द्रके स्वरूपको नष्ट करता है) वह पापी है, निंदक है, मिथ्यादृष्टी है और दीर्घसंसारी है।

सर्वज्ञं परमागमं जिनमुनिं दोषव्यपेतव्रतं।
सद्गोत्रं च गुरुं च निंदयति यो द्रव्यं च देवस्ययः॥
आदत्ते निजधार्मिकस्य जहति यो सौ कुतर्क करो-
स्यल्पायुर्नरकादिदुर्गति भवेत्तस्य हि सत्यं वचः॥

(दानशासन)

भावार्थ—जो जैन श्रीसर्वज्ञदेव, जिनागम, दोपरहित व्रतोंको पालन करनेवाले मुनिगण और धर्मगुरुको निंदा करता है और जो ऊंच गोत्रको नहीं मानता है, जो देवद्रव्यका अपहरण करता है, जो साधर्मी भाइयोंके साथ द्वेष करता है और जो कुतर्क द्वारा सदाचारको नष्ट करता है वह नरकगतिका पात्र है यह निःसन्देह सत्य है।

उपर्युक्त दानशासनके श्लोकोंपर प्रत्येक जैनभाईको गहरा विचार करना चाहिये। जो लोग आगमके रहस्यको नहीं समझे हैं और इधर उधरका थोड़ासा सुन सुनाकर आगमके सत्यस्वरूपको अपने विपर्योंको पोपण करनेकेलिये नष्ट करते हैं और जगतमें विषय कषाय व्यभिचार और असदाचार बढ़ानेकेलिये जिनागमका मनमाना अर्थकर जिनागमपर अवर्णवाद लगाते हैं। परम वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरुओंकी केवल नीचवासनासे निंदा करते हैं। देवका द्रव्य

(रुपया पैसा) खजाना चाहते हैं, धर्मात्मा और पंडितगणोंका अपने कार्यमें विघ्नकारी (रोड़ा) समझकर भरपेट निंदा करते हैं, कोपते हैं, उनकी निर्मल कीर्तिका नाश करते हैं, उनमें झूठे दोष लगाते हैं, और कुतर्कोंके द्वारा धर्मके सत्यस्वरूपको छिपाकर (दिगंवर श्वेतांवर सबको एक करना) मनमाना स्वरूप प्रकट करना चाहते हैं। वे मिथ्यादृष्टी जैनधर्मके द्रोही और दुर्गतिके पात्र हैं। उनको जैन कहनेमें भी भारी पाप होता है।

दानका फल।

(पात्रदानका फल)

सत्पात्रदानमनघं कुरुते सुपुण्यं।
पापं निहंति सरुजं सकलान्तरायं॥
स्वर्गादिजातमलयं च सुखं ददाति।
तस्मिन् गृहे क्षरति रत्नहिरण्यवृष्टिः॥

भावार्थ—सत्पात्रमें दान देनेसे पाप रहित पुण्यका संचय होता है। पापोंका नाश होता है, रोग दूर हो जाते हैं, अन्तरायकर्मका नाश होकर धनधान्य और चक्रवर्तीको विभूति प्राप्त होती है, स्वर्गके सुखप्राप्त होते हैं और उसके गृहमें प्रत्यक्ष ही रत्नवृष्टि होती है, तत्कालही सुवर्णवृष्टि होती है।

जिनागममें यही बतलाया है कि पात्रमें ही दान देना चाहिये। कुपात्र और अपात्रको नहीं देना चाहिये। जो मिथ्यादृष्टी साधु,

मिथ्याधर्मी आदिको पात्र समझकर दान करते हैं वे अपने हाथसे ही अपना नाश करते हैं।

पात्राणि मत्वा ददते कुदृग्भ्यो, वित्तानि मिथ्यात्वमुपव्रजंति।
दुष्टाय दुष्टत्वमयांति मूढाः, पापाय येऽह्नांसि च येत्र ते ते ॥

जो मिथ्यादृष्टी लोगोंको पात्र समझकर दान देते हैं वे मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं, क्योंकि दुष्ट लोग सबको दुष्ट ही बनाते हैं। यह मिथ्यादृष्टी लोगोंकेलिये दान देना पापको बढ़ानेका मार्ग है।

दानं मिथ्यादृशे दत्तं दृष्टिं पुण्यं च नाशयेत्।

जो मिथ्यादृष्टी लोगों (ब्राह्मण साधु पाखंडी आदिको पूज्य समझ कर) को दान देता है उसका सम्यग्दर्शन और पुण्य नाश हो जाता है।

सद्दृष्टिः कुदृशे सुपात्रमिति तं मत्वा च दत्ते धनम्।
हत्वा दृक् सुकृतं पुनः कृतमघं संवर्ध्य तत्संक्षयेत् ॥

(दानशासन)

भावार्थ—यदि सम्यग्दृष्टी जैन मिथ्यादृष्टी लोगोंको (या मिथ्यादृष्टी आयतनोंमें) सुपात्र समझ कर दान देते हैं तो उनका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है और उनका पुण्यकर्म नष्ट हो जाता है, वे भारी पापोंका प्रचार कर दीर्घसंसारी और मिथ्यादृष्टी स्वयं हो जाते हैं।

पुत्रकी प्राप्तिके लोभसे, विषयभोगोंकी इच्छासे, कीर्ति और मान बड़ाईके लिये जो जैन अपनेको सम्यग्दृष्टी कहलाते हुये भी ब्राह्मण लोगोंको विवाह शादी और धर्मकार्यमें उत्तम समझ कर दान देते हैं

वे मिथ्यात्वकी वृद्धि करते हैं। जो जैन मिथ्यागुरु पाखंडीको उत्तम या योग्य मानकर दान देते हैं वे भी मिथ्यादृष्टी हैं।

जो मिथ्याशास्त्रोंके पढ़ने पढ़ानेकेलिये दान देते हैं वे भी मिथ्याधर्मके प्रचारक मिथ्यादृष्टी हैं।

पापकार्योंकी प्रवृत्ति और वस्तुके स्वरूपका लोप होना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व संसारका मार्ग है। संसारमें जीवोंको जन्म मरणके दुःख निरंतर भोगने पड़ते हैं इसलिये ऐसा दान, ऐसी वस्तुका दान और ऐसे अपात्र या अपात्र-अनायतनको नहीं देना चाहिये जिससे संसारकी वृद्धि हो, पाप बढ़ता हो और वस्तुके स्वरूपका लोप होता हो, क्योंकि अपात्रदानका फल आगममें अधम और पापोत्पादक बतलाया है।

शिलोपरि यथा उप्तं बीजं भवति निष्फलं।
तथापात्राय यद्दत्तं तद्दानं निष्फलं भवेत्॥

भावार्थ—जिसप्रकार शिलापर बोया हुआ बीज निष्फल होता है उसीप्रकार अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान सर्वथा निष्फल होता है।

अश्मपोताधिरूढोना यथा मज्जति सागरे।
अपात्रपोषकस्तद्वत् संसाराब्धौ निमज्जति॥

भावार्थ—जिसप्रकार पत्थरकी नावपर पार उतरनेवाला मनुष्य समुद्रमें डूब जाता है उसीप्रकार अपात्रमें दान देनेवाला मनुष्य संसार-समुद्रमें डूब जाता है।

अपात्रका वर्णन इस ग्रन्थके प्रारंभमें किया है। जिससे धर्मका लोप होता हो, जिससे सदाचारका लोप होता हो और जिससे जिनागम

जिनधर्म जिनगुरु और श्रीजिनदेवमें अवर्णवाद लगते हों और जिससे विषय कषाय रागद्वेष और मिथ्यामार्गकी प्रवृत्ति बढ़ती हो वह अपात्र है। जो स्वयं संसारके मार्गमें फंसते हैं और अनंत जीवोंको कुमार्ग बतलाकर मिथ्यामार्गमें फसाते हैं वे सब अपात्र हैं। चाहे उनने जैनकुल प्राप्तकर लिया हो तो भी वे अपात्र ही हैं, मिथ्यादृष्टी हैं ऐसे अपात्रोंकेलिये दान देना अधर्मको बढ़ाना है।

ऐसी पाठशालायें ऐसे बोर्डिंग ऐसे स्कूल और ऐसे अनाथतनकी जिनसे अधर्मका पोषण सुधर्मका लोप, असदाचारकी वृद्धि आगमका अनर्थ, देवगुरुका मिथ्यास्वरूप प्रकट होता हो तो वे सब अपात्र हैं।

अपात्राय प्रदत्ते यो दानं धर्माय मूढधीः।
तद्दानजेन पापेन श्वभ्रादिकुगतिं व्रजेत्।

भावार्थ—जो मनुष्य अपात्रको धर्म समझकर दान देता है वह मूर्ख है अज्ञानी है। उस अपात्रको दान देनेके फलसे नरकादि दुर्गतिको प्राप्त होता है।

यथाऽपात्रो भ्रमत्येव संसारे पापयोगतः।
तद्दातापि तथा पापाच्चतुर्गतिषु प्रत्यहं ॥

भावार्थ—जिसप्रकार अपात्र अपने किये हुए पापोंके फलसे निरन्तर संसारमें भ्रमण करता है उसीप्रकार अपात्रको दान करनेवाला दाता भी चतुर्गति संसारमें भ्रमण करता है। जिसप्रकार मदिरा-पान करनेवाले मनुष्यको द्रव्य दिया जाय तो वह मदिरा पीनेवाला उस द्रव्यसे केवल मदिरापान ही करेगा। इससे दाताको भी पापका फल अवश्य लगेगा। जिस प्रकार वेश्याको दान देनेवाला मनुष्य

पापका भागी होता है उसीप्रकार अपात्रको दान देनेवाला दाता पापका ही भागी होता है।

अपात्रदानयोगेन यच्च पापं करोत्यधीः।
मैथुनादिभवं दाता श्रयेत्तस्यात्र मेव हि।

मूर्ख लोग अपात्रमें दान देकर जो पापकर्म संपादन करते हैं उतना पापकर्म व्यभिचार आदि पापकर्मोंसे नहीं होता है।

अंधकूपे वरं क्षिप्तं धनं निर्नाशहेतवे।
नैव दानमपात्राय यतो दुर्गतिदायकं॥

अंधेकूपमें धनको डाल देना अच्छा है। उससे केवल धनही नाश होगा परन्तु पापबंध नहीं होगा। अपात्रमें दान देनेवाले दानका धन तो नाश होता ही है और साथमें दाताको दुर्गति भी होती है। इसीप्रकार कुपात्रमें दान देना व्यर्थ है।

कुपात्रदानदोषेण भुक्त्वा तिर्यग्गतिं सुखं।
स्तोकं पतंति संसारे वने जीवाः कुदुःखिताः॥

भावार्थ—कुपात्र दानके दोषसे दाता तिर्यग्गतिका किंचित् सुख भोग कर संसार वनमें चिरकालपर्यन्त दुःखको प्राप्त होता है।

दान किसको देना चाहिये

दान सुपात्रमें ही देना चाहिये। सुपात्र मुनि आर्यिका ऐलक क्षुल्लक श्रावक श्राविका और जिनायतन हैं इनमें दान देनेसे मोक्षमार्गको प्राप्ति होती है।

यथाहिः पोषितो दत्ते विषं क्षीरं च गौ च नुः।
तथाऽपात्रो महत्पापं पुण्यं सत्पात्र एव च।
तथा कल्पद्रुमो दत्ते भोगं धत्तूरको विषं।
तथा स्वर्गं सुपात्रो वै कुपात्रः श्वभ्रमेवच॥

सांपको दूध पिलानेसे विष उत्पन्न होता है परन्तु गायको तृण खिलानेपर दूध उत्पन्न होता है इसीप्रकार अपात्रको दान देनेसे महान पाप होता है और सुपात्रको दान देनेसे पुण्य होता है। जिसप्रकार कल्पवृक्ष मनवांच्छित भोगोंको देता है और धतूरा विषको देता है इसी-प्रकार अपात्रको दान देनेसे नरक होता है और पात्रको दान देनेसे स्वर्ग होता है। जिसप्रकार मेघका पानी नींवमें कडुआ होजाता है और गन्ना (शेलडी इक्षु) में मीठा हो जाता है, ठीक इस प्रकार अपात्रको दान देनेसे केवल मिथ्यात्वकाही प्रचार और दाताको दुर्गति होती है तथा पात्रको दान देनेसे दाताको स्वर्ग तथा मोक्षका सुख प्राप्त होता है और मोक्षमार्गका प्रचार होता है।

इसलिये अपात्र और कुपात्रको छोडकर उत्तम मध्यम और जघन्य पात्रमें दान देना चाहिये।

जिस प्रकार वटका सूक्ष्म बीज उत्तम भूमिपर डालनेसे महान उत्तम फलको देता है उसीप्रकार पात्रमें स्वल्प भी दान महान उत्तम फलको देता है।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृतां।

स्वल्पही दान पात्रमें देनेसे उत्तमोत्तम भोगोंको प्रदान कर अन्तमें मोक्षसुखको प्राप्त करता है।

तृणानत्ति यथा गौश्च दत्ते दुग्धामृतं नृणां।
तथा च यमिनः स्तोकं भुक्तं स्वर्गामृतं धनं॥

जिस प्रकार गाय तृणका भक्षण कर दूधरूपी अमृत प्रदान करती है उसी प्रकार मुनिजन आदि पात्रमें स्वल्प भी आहार दान स्वर्गरूपी अमृतको प्रदान करता है।

इसलिये पात्रमें ही दान देना चाहिये और समस्त दानोंमें आहारदान श्रेष्ठ है। भव्य जीवोंको विचार कर सब प्रकारके प्रयत्नसे और मन वचन कायकी विशुद्ध भावनासे पात्रमें आहारादि दान देना चाहिये।

करुणादान।

भूखे, लूले, अंधे, शीतसे पीडित, रोग आदि व्याधिसे दुखित, अशक्त निर्बल दीन और आपदाओंसे घिरे हुए मनुष्योंपर करुणाभाव रखकर उनके दुख दूर करना उनको संकटसे बचाना सो यह सब करुणादान है।

भूखोंको रोटी देना, लूले अंधोंकी हिफाजत करना, शीतसे पीड़ितोंको वस्त्र प्रदान करना, रोगसे पीड़ितोंको औषधि देना, सेवा सुश्रूषा करना, दरिद्रियोंको संकटसे बचाना, निर्बल अशक्त और दीनोंपर करुणाभाव रखकर उनको शांति पहुचाना, तृषातुरोंको पानी देना, विधवाओंको शीलधर्ममें लगाना, पापकर्मसे जीवोंकी रक्षा करना, मांस मदिराके प्रचारको रोकना, देवताके नामसे जीवोंपर होनेवाली बलिका

निषेध करना, जूआ चोरी और बुरे कामोंसे जीवोंको बचाना, सो करुणादान है। समस्त जीवमात्रको सुखी करनेकी इच्छा रखना यह सब करुणादान है।

यह करुणादान भी पात्रमें सबसे प्रथम धर्मबुद्धि समझकर करना चाहिये और अपात्रमें दयाभावसे करना चाहिये।

अभयदान और दयादान

धर्मके नामसे होनेवाली जीव-हिंसाको रोकना, देवतापर धर्मके नामसे होनेवाली जीव-हिंसाको रोकना; यज्ञमें होनेवाली जीवहिंसाको रोकना, सतीके कारण होनेवाली जीव-हिंसाको रोकना, विषयोंके सेवनके लिये होनेवाली जीवहिंसाको रोकना, कसाई आदिके द्वारा मरते हुये जीवोंको बचाना, अग्निमें जलते हुए जीवोंकी रक्षा करना, पानीमें बहकर मरते हुऐ जीवोंकी रक्षा करना, शिकार खेलनेका निषेध करना, सर्प सिंह शूकर आदिको मारते हुऐ से बचाना, फांसी कुत्ताफांसी आदिसे जीवोंको मरते हुऐ उनपर दयाभाव रखकर बचाना, जीवमात्रको आपदासे रक्षा करना सो सब अभयदान है।

जैनधर्मका मुख्य उद्देश्य व धर्मका मूल लक्षण अहिंसा है सो जिस प्रकार जीवोंकी हिंसा कम हो या हिंसाको सर्वथा होने नहीं देना सो सर्व अभयदान है। उसको दयादान भी कहते हैं।

वास्तविकमें अभयदान जीवोंको कुमार्गसे छुडाकर सन्मार्गमें लगा देनेसे होता है। सद्धर्मकी प्राप्तिसे अनंत भवके जन्म मरणके दुःख छूट जाते हैं। एक भवके दुःखोंको दूर करनेमें उतना महत्त्व नहीं है

जितना कि जीवोंको जन्म मरणका दुःख दूर करनेमें वा जन्म मरणके नाश करनेमें है। जिससे जन्ममरण नाश हो ऐसे समीचीन मार्गमें लगा देनाही अभयदान है।

मिथ्यामार्ग जगतमें अनंत है। मिथ्यामार्ग से ही जीव जन्ममरणके दुःखोंको प्राप्त होता है। अनादिकालसे जीव अनंत संसारमें भ्रमण कर रहा है और अनेक योनियोंमें जन्म मरण धारण कर रहा है उसका मूलकारण एक मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यात्वभाव दूर होनेपर समस्त दुःख स्वयमेवही नष्ट हो जाते हैं और अपरंपार सुख स्वयमेव ही प्राप्त होता है इसलिये मिथ्याधर्म (एक दिगम्बर जैनधर्मको छोड़कर बाकी श्वेताम्बर सांख्य मीमांसक आदि जितने मत हैं वे सब मिथ्या-धर्म) का परित्याग कराकर समस्त जीवमात्रको जैनधर्ममें लगा देना सो अभयदान है।

जैनी बनानेकेलिये रोटी बेटी सबके साथ (ढंढ़ भंगी चमार आदि) करना या बतलाना यह विशेष मिथ्यात्व है क्योंकि जब जिनागमकी आज्ञाका ही लोप प्रत्यक्ष होता है, जिनधर्मकी पवित्रता और मोक्षमार्ग नष्ट होता है तो ऐसे जैन बनानेसे क्या लाभ? जब जैनधर्मका ही लोप हो गया तो जैन कौन कहेगा? सबको जैन बनाना चाहिये, सबको जैनधर्म समझाना चाहिये परन्तु सबके साथ रोटी बेटी व्यवहार करनेका मार्ग नहीं खोलना चाहिये। जैनधर्म तो पशु भी पालन करेंगे और करते हैं तो उनके साथ भी रोटी बेटी व्यवहार होना चाहिये सो कोई भी नहीं करता है।

इसलिये सबको सत्यस्वरूप जैनधर्मका उपदेश कर सबको

पापमार्गसे-हिंसा झूंठ चोरी कुशील और पापाचरणसे बचाना चाहिये यही अभयदान है। अभयदान और करुणादानका महान फल और लोकोत्तर है।

कुदान।

आगममें भूमि अश्व हाथी गो सुवर्ण कन्या आदि दश प्रकारके कुदान बतलाये हैं। कुदानके प्रदान करनेसे जीवोंको महान भयंकर नरकादिक दुखरूप फल प्राप्त होता है। पापाचरण, हिंसा, आरंभ विषय कषायोंकी वृद्धि होती है और मिथ्यात्व प्रवृत्ति भी होती है। ये कुदान आर्त रौद्र ध्यानके प्रधान कारण हैं इसलिये इन पदार्थोंका दान करना शास्त्रमें निषेध बतलाया है।

आगममें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका स्वरूप पदार्थोंके उद्देश्य और भाव यथार्थरूपसे जान लेनेमें माना है। पदार्थका उद्देश्य पदार्थके स्वरूपसे विपरीत है तो वह मिथ्यात्व है यदि पदार्थका उद्देश्य पदार्थके स्वरूपके अनुकूल है तो वह सम्यक्त्व है। पदार्थोंके भाव बदलनेमें ही मिथ्यात्व माना है। एक पदार्थका यदि भाव बदल देवे तो वह पदार्थ मिथ्यात्वरूप होगा।

यदि मन्दिर बनानेकेलिये भूमि प्रदान की जाय तो कुदान नहीं होगा। यदि भगवानका जुलूस निकालनेके लिये हाथी दिया जाय तो वह कुदान नहीं है। यदि किसी पाठशालामें धन दिया जाय तो वह कुदान नहीं है किंतु वही भूमि मिथ्यात्वके प्रचारके लिये और आरंभ परिग्रह हिंसाके बढ़ानेके लिये प्रदानकी जाय तो वह कुदान ही

है। दो मनुष्य गंगामें स्नानकर रहे थे एकका भाव गंगामें स्नान कर भगवानको पूजा करनेका था और दूसरेका भाव गंगामें स्नान कर समस्त पापोंको नाशकर वैकुंठको प्राप्ति करना था। गङ्गामें स्नान करने मात्रसे वैकुंठको प्राप्ति नहीं होती इसलिये ऐसे भाव रखकर स्नान करनेवाला मिथ्यादृष्टी है। भरत महाराजने भी हाथी घोड़ा आदि पदार्थोंका दान किया था।

दीयतेऽद्य महादानं भरतेन महात्मना।
विभोराज्ञां समासाद्य जगदाशा प्रपूरणे ॥१५६॥
वितीर्णेनाऽमुना भूयादमूतिश्चामीकरेण वः।
दीयंतेऽश्वाः सहयोगैरितश्चामीकरेण वः ॥ १५७ ॥

(आदिपुराण ६१८)

भावार्थ—भरत महाराजने आज श्री जगत्प्रभु श्री आदिब्रह्मा ऋषभदेवकी आज्ञासे जगतके जीवोंकी आशा पूर्ण करनेकेलिये घोड़े हाथी और सुवर्णका दान किया। यह दान अपने साधर्मी भाइयोंको दिया गया।

अपने साधर्मी भाइयोंको, अपने जातिके भाइयोंको, अपने धर्मके आयतनोंको और अपने धर्मके अंगोंको सुवर्ण कन्या घोड़ा हाथी आदि दिया जाता है इसको समदत्ति कहते हैं।

श्रीजिनमंदिरकेलिये गांव भूमि दुकान और घर दान किया जाता है और उसमें महान पुण्य शास्त्रोंमें बतलाया है। आगममें मंदिर तीर्थ आदिकी रक्षाके लिये भूमिदान बतलाया है। श्रीजिनेन्द्रदेवके अभिषेकके लिये गौ भी दानमें दी जाती है, परन्तु मरण

समय मिथ्यात्वी ब्राह्मणोंको गोदान दे कर वैतरणी नदीमें गौकी पुच्छ पकड़ कर तिरनेको धर्म मानना मिथ्यात्व है। पदार्थोंके उद्देश्य और भावोंमें ही सम्यक्त्व या मिथ्यात्व है। पदार्थोंके उद्देश्य या जीवोंके भावोंमें आगमविरुद्धता हो या आगमविरुद्ध कर्तव्य हो अथवा आगमविरुद्धरीति नीति हो वही मिथ्यात्व है। आगमके अनुकूल पदार्थोंके सत्यस्वरूपको प्राप्त होना सो सम्यक्त्व है।

इसीलिये कन्यादानको समदत्तिमें बतलाया है। यह कन्यादान मोक्षमार्गको स्थिर (यावच्चंद्र दिवाकर बनानेके लिये) करनेके लिये मुख्य कारण माना है, इतनाही नहीं किंतु कन्यादान धार्मिक संस्कारोंमें मुख्य संस्कार है और दान, पूजा, तथा अन्वयदत्तिका साधन है।

यदि कन्यादान न दिया जाय और उसको धार्मिक संस्कार नहीं माना जाय तो सज्जातिका अभाव होनेसे सप्त परमस्थानका भी अभाव हो जायगा और जैनधर्मका सर्वथा लोप हो जायगा। हां; मिथ्यामतके समान कन्यादानसे समस्त पापकर्म नष्ट हो जाते हैं और वैकुंठका वास होता है इसलिये कोई भी किसी कन्याका दान करनेमें पुण्य मानना पूर्ण मिथ्यात्व है। इसीलिये आगम ऐसे भावोंसे और ऐसे उद्देश्यसे कन्यादान करना निषेध बतलाता है परन्तु अपनी कन्याका अपनी जातिमें धर्मपद्धति चलानेकेलिये विवाह-संस्कार करना धार्मिक महान कृत्य और मुख्य कृत्य बतलाया है।

जो लोग विवाहको सामाजिक व्यवहार बतलाते हैं वे वास्तविक रूपसे समझ बूझ कर और पदार्थके सत्यस्वरूपको जानकर भी अपने

स्वार्थके लिये धोखा देते हैं। वे लोग विवाहको समाजका व्यवहार कहकर विवाहको रूढ़ि सिद्धकर स्वच्छंदताका मार्ग प्रकटरूपमें खोल कर व्यभिचार और पापकर्म फैलाना चाहते हैं। जो लोग विजातीय-विवाहका उपदेश देते हैं वे तो आगमका ही पूर्णरूपसे खून करना चाहते हैं। आगममें बतलाया है कि "अथ कन्या सजातीया भिन्नगोत्रभवोद्भवा" अर्थात् कन्या अपनी जातीकी ही होना चाहिये और भिन्नगोत्रकी होनी चाहिये। इसीप्रकार 'लाटीसंहिता'में कन्या आत्मीय जातिकीही ग्रहण करनेकी आज्ञा बतलाई है।

इसलिये कन्यादान आदि दानोंका उद्देश्य और भाव मिथ्यात्वरूप है, पापकर्म रूप है तो वहं कुदान समझे जायंगे और यदि उनका उद्देश्य और भाव सम्यक् है एवं आगमके अनुकूल मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति और वस्तुके सत्यस्वरूपको प्रकट करनेके लिये है तो वे सब दान सम्यक्दान कहलायंगे। यही बात 'चारित्रसार' नामके परमागममें बतलाई है।

"स्वसमक्रियामंत्राय निस्तारकोत्तमाय
कन्याभूस्वर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानम्"

भावार्थ—जिनकी समान क्रिया है, जिनके आचरण एक समान हैं और जिनके वंश कुल व जातिके मंत्र एक समान हैं ऐसे श्रावकोत्तमको कन्या भूमि सुवर्ण हाथी घोड़े रथ आदि देने चाहिये। अनादिकालसे जमाईको भूमि घोड़े गौ रथ हाथी आदि पदार्थ दहेजमें दिये जाते हैं।

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे।
कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत ॥

भावार्थ—अपने सजातीय श्रेष्ठ श्रावक या धनादिक शक्तिसे मध्यम श्रावकको कन्या भूमि हाथी घोड़े रथ रत्नादिक वस्तुओंका दान करना चाहिये, यह समदत्ति है।

आधानादिक्रियामंत्रव्रताद्यच्छेदवांच्छया।
प्रदेयानि सधर्मेभ्यः कन्यादीनि यथोचितं ॥

भावार्थ—गर्भाधान क्रियामंत्र और व्रतोंके नाश नहीं होनेकी इच्छासे अपनी जातिके भाईको कन्यादिक प्रदान करे, इसीप्रकार बिम्बप्रतिष्ठा (पंचकल्याण) के समय समस्त भाइयोंको आहारदान करना, लाडू बांटना आदि सम्यक्त्वके मुख्य कारण माने हैं। अपने धनका सदुपयोग जिनबिंब निर्माण कर और उसकी प्रतिष्ठा पंचकल्याणके साथ करानेमें महान पुण्य है, इतना ही नहीं जो पंचकल्याण करता है वह तीर्थंकर गोत्रका बंध करता है' सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करता है और अगणित जीवोंको निरंतर सम्यग्दर्शनको प्राप्ति कराता है। पंचकल्याणकके करानेमें सर्वोत्कृष्ट पुण्य, महान महिमा और निर्मल यश बतलाया है। पंचकल्याणक गजरथ आदिमें भोजन करानेमें भी महान पुण्य, वात्सल्यअंगकी महिमा और धर्मकी प्रभावना बतलाई है और वह समदत्तिके ही अंतर्गत होती है।

व्रत उद्यापन, रथोत्सव व मेला प्रतिष्ठापर साधर्मी भाइयोंको आहारदान कराना ही चाहिये। इसीप्रकार मृतककी शुद्धिकेलिये अपने साधर्मी भाइयोंको आहारदान कराना भी समदत्ति है। यह समदत्ति पात्रदत्तिके अभ्यंतर ही है।

श्राद्ध ।

दान शब्दसे पात्रदत्ति, समदत्ति अन्वयदत्ति और करुणादत्ति आदि समस्त प्रकारके कुदानोंका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो भी जिनागममें दानके पर्यायवाची दत्ति, दान, श्राद्ध, तर्पण आदि अनेक शब्द बतलाये हैं। दान शब्दका अर्थ सामान्य दान मात्रमें है परन्तु श्राद्ध शब्दका अर्थ श्रद्धापूर्वक सुपात्रमें दान देना है। इसी प्रकार तर्पणका अर्थ सुपात्रको आहारदान आदि देकर संतुष्ट करना तृप्त करना बतलाया है। इसलिये श्राद्ध और तर्पण ये दोनों शब्द भी दानके अर्थमें आते हैं। आगममें तर्पण और श्राद्ध शब्दकी व्याख्या इसी प्रकार की है। श्राद्ध और तर्पण शब्दका अर्थ अन्यमतमें अन्य प्रकार किया है वह जिनागममें मान्य नहीं है।

श्राद्ध शब्दका अन्य मतमें माना हुआ अर्थ।

अन्य मतांतरोंमें अज्ञानी मनुष्योंने अपने स्वार्थ-सिद्धिके लिये मिथ्या कल्पना कर श्राद्ध शब्दका अर्थ मोहोदयसे यह किया कि—"मृतक पितरोंकी तिथिके दिवस क्वार (आसोज, आश्विन) मासमें ब्राह्मण और कागला (काक) को भोजन करानेसे मृतक पितरोंको वह भोजन पहुंच जाता है और उससे मृतक पितरोंकी भूख मिट जाती है।" यह बात नितांत असंभव है क्योंकि पिता मरकर नरक स्वर्गमें या अन्य क्षेत्रमें जन्म लेनेपर ब्राह्मण और काकको प्रदान किया हुआ श्राद्ध मरे हुऐ पिताके पेटमें किस प्रकार पहुंच सक्ता है? क्या ब्राह्मण और काकका पेट पोष्टआफिस है जो अपने पेटमें खाये हुए

भोजनको मृतक पिताके पेटमें स्वर्गमें या नरकमें पहुंचा देवे। इस-प्रकारका श्राद्ध करना महा मिथ्यात्व है, अनंत संसारका कारण है। इसीलिये जिनागममें बतलाया है—

दाने दत्ते पुत्रैर्मुच्यते पापतोऽत्र यदि पितरः।
विहिते तदा चरित्रे परेण मुक्तिं परो याति॥६३॥

(अमितगति श्रावकाचार)

भावार्थ—श्राद्धमें मृतक पितरोंको पापसे बचानेकेलिये काक और ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाय तो अन्यके तपश्चरण करनेपर दूसरा ही जीव मोक्षको प्राप्त हो जावे? फिर तो एकके बदलेमें दूसरा मर जावे और एकके भोजन करनेपर दूसरेका पेट भर जावे। इस गप्प सिद्धान्तको जैनमत सत्य नहीं मानता है किंतु श्राद्ध शब्दका अर्थ "श्रद्धा पूर्वक सुपात्रके लिये दान देना" जिनागम बतलाता है। यथा—

साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीप्सितम्।
यस्यैषा जायते श्रद्धा नित्यं श्राद्धं वदंति तम्॥

(अमितगति श्रावकाचार)

भावार्थ—रत्नत्रयसे भूषित मुनीश्वरोंको श्रद्धा पूर्वक दान देनेसे मनवांछित उत्तम फलकी सिद्धि होती है। इसप्रकारकी श्रद्धासे जो दान दिया जाता है वह श्राद्ध है। यही अभिप्राय पद्मपुराणमें स्वामी रविषेणाचार्यने बतलाया है—

सुगंधिजलसंपूर्णं पात्रमुद्धृत्य भामिनी।
देवी वारि ददौ राजा पादावक्षालयन्मुनेः॥

शुचिश्चामोदसर्वांगस्ततो राजा महादरः।
क्षैरेयादिकमाहारं सद्‌गंधरसदर्शनम् ॥
हेमपात्रगतं कृत्वा श्रद्धया परमान्वितः।
श्राद्धं स्म परिवेवेष्टि पात्रे परममुत्तमे ॥

(पद्मपुराण ४२० पत्र, तृतीय खंड)

भावार्थ—सुगंधित जलसे भरे हुऐ पात्रको उठाकर रानीने राजाको जल दिया और राजाने मुनिराज श्रीरामचंद्रजीके चरणोंका प्रक्षालन किया; पीछे वह पवित्र हर्ष सहित भक्तिवान राजाने सुगंधित और रसयुक्त खीर आदि आहारको सुवर्णके पात्रमें रखकर परम श्रद्धासे मुनिराजको दिया और फिर राजाने अपनेको श्राद्ध करनेवाला प्रकट किया। यहां पर पात्रके लिये श्रद्धापूर्वक दान देनेको श्राद्ध बतलाया है। ऐसा श्राद्ध सम्यग्दृष्टी भव्य जीव महान पुण्य कर्मके उदयसे ही करते हैं। जैनागम इसप्रकारके श्राद्ध करनेके लिये आज्ञा देता है परन्तु मृतक पितरोंके लिये ब्राह्मण काकको भोजन कराकर श्राद्ध करनेसे मृतक पिताओंके पाप कर्म छूट जाते हैं और उन मृतक पितरोंका पेट ब्राह्मण और काकको भोजन कराकर श्राद्ध करनेपर भर जाता है ऐसा मानना मिथ्यात्व है। इसलिये श्रद्धा पूर्वक पात्रोंके लिये दान देना सो श्राद्ध कहलाता है और यह श्राद्ध शब्दका अर्थ सत्य है, जिनागम मान्य है। जिनागममें बतलाया है कि—

"श्रद्धयान्नप्रदानं तु सद्‌भ्यः श्राद्धमितीष्यते।"

अर्थात्—श्रद्धापूर्वक पात्रकेलिये अन्नदान देना सो श्राद्ध कहलाता है। तथा च—

श्रद्धया दीयते दानं श्राद्धमित्यभिधीयते

अर्थात्-श्रद्धापूर्वक पात्रोंके लिये दान देना सो श्राद्ध है। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टी अज्ञानी लोगोंने मोहोदयसे मृतक पितरोंको पानी देना और वह दिया हुआ पानी मृतक पितरोंके पेटमें पहुंच कर उनकी तृषा (प्यास) को शांत कर देना ऐसा तर्पण शब्दका अर्थ बतलाया है। पुत्रके पानी देनेसे मृतक पितरोंकी प्यास स्वर्ग या नरक आदि क्षेत्रमें शांत होजाना नितांत असंभव है। ऐसी गप्पको सत्य किस प्रकार माना जाय ? इस प्रकारके तर्पणके पाखंडसे अनंत संसारके साथ मिथ्यात्व वृद्धिगत होता है, इसलिये ऐसा तर्पण करना मिथ्यात्व है। परन्तु जिनागममें तर्पण शब्दका अर्थ यह नहीं बतलाया है। तर्पण शब्दकी व्याख्या (अर्थ) जिनागममें बतलाई है कि-

गृहं तदुच्यते तुंगं तर्प्यंते यत्र योगिनः।
निगद्यते परं प्राज्ञैः शारदं घनमण्डलम् ॥२२॥

(अमितगति श्रावकाचार, नवम परिच्छेद)

भावार्थ—जिस घरमें मुनिजनोंको आहारदान आदिके द्वारा तृप्त किया जाता है वह घर शरदके बादलोंके समान पवित्र और श्रेष्ठ है। इस प्रकार मुनिजनोंको आहार दानके द्वारा तृप्त करनेको तर्पण कहते हैं। तर्पण शब्दका यही अर्थ 'यशस्तिलक' में आचार्य सोमदेव स्वामीने बतलाया है। यथा—

"तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं संतर्पणं"

(नीतिवाक्यामृत, २८६ पत्र)

भावार्थ—वे ही उत्तम पर्व हैं जिनमें सम्यग्दृष्टी भव्य संयमी जनोंको यथेष्ट संतर्पण करे, संतोषित करे, तृप्ति करे। इसको तर्पण कहते हैं। इस तर्पणका खुलासा आचार्य सोमदेवस्वामी पुनः यशस्तिलक में इसप्रकार करते हैं—

जन्मैकमात्माधिगमो द्वितीयं भवेन्मुनीनां व्रतकर्मणा च।
अमी द्विजाः साधु भवंति तेषां संतर्पणं जैनजनः करोतु॥

(यशस्तिलक पत्र १०८)

इस श्लोककी संस्कृतटीका आचार्य श्रुतसागर विरचित—

"एकं जन्म आत्माधिगमः आत्मलाभः उत्पत्तिरेवेत्यर्थः, गर्भान्निसरणमित्यर्थः। द्वितीयं जन्म व्रतकर्मणा च दीक्षाकर्मणा मुनीनां यतीनां भवेत् संजायते। अमी एते मुनयो द्विजाः ब्राह्मणाः साधु भवंति, समीचीनतया संजायंते तेषां मुनिलक्षणानि द्विजानां संतर्पणं चतुर्विधेन दानेन संप्रणीनं जैनजनः आर्हतः लोकः करोतु विदधाति।"

भावार्थ—जिनके दो जन्म होते हैं वे द्विज (ब्राह्मण) कहलाते हैं। गर्भमेंसे निकलनेको प्रथम जन्म कहते हैं और दूसरा जन्म व्रतक्रिया तथा दीक्षाक्रिया द्वारा मुनियोंका होता है। इसलिये मुनिगण द्विजन्मा अथवा द्विज ब्राह्मण हैं ऐसे द्विजरूप ब्राह्मणों (मुनीश्वर) का तर्पण आहारदान द्वारा (तृप्ति संतोष) अरहंतमतके परमभक्त जैनी लोग करते हैं उनकी इसप्रकार मुनिजनोंको तृप्तिपूर्वक दान देनेकी क्रियाको जिनागममें तर्पण कहा है। एक बात यह ध्यानमें रखनी चाहिये कि यहांपर मुनीश्वरोंको ब्राह्मण कहा है। मुनीश्वरोंकी

ब्राह्मण संज्ञा यथार्थ है। ब्राह्मण (दो जन्मद्वारा ब्रह्मरूप आत्माको जाननेवाले) मुनीश्वर ही हो सक्ते हैं। मिथ्यात्वी व्रत क्रियासे रहित नाममात्रके ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मणोंको दान देना मिथ्यात्व है परन्तु सच्चे ब्राह्मण मुनिराजको दान देकर तृप्त करना सो यह तर्पण मोक्षमार्ग है, सम्यग्दृष्टीका परम आवश्यक कर्तव्य है। इसी लिये आदिपुराणमें "सुब्राह्मणाय तर्णयामि, देवब्राह्मणाय तर्णयामि" इसप्रकार सम्यग्दृष्टी भव्यको तर्णण करनेकी मंत्रों द्वारा आज्ञा प्रदानकी है। यहांपर भी सुब्राह्मणका अर्थ उत्तम मुनीश्वर है और देवर्षिको देवब्राह्मण कहा है। यही बात "धर्मसंग्रहश्रावकाचार" में बतलाई है—

नित्यं सामयिकादीनि पंचपात्राणि तर्पयेत्।
दानादिनोत्तरोत्तरगुणरागेण सद्गृही ॥

(धर्मसंग्रहश्रा० पत्र २५६)

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावक, संयमी, श्रावक साधु सूरि और समयदीपक इसप्रकार पांच सत्पात्रोंको दान और सन्मानके द्वारा तर्णण (तृप्त) करे, संतुष्ट करे। यह तर्णण शब्दका अर्थ है।

जिनागममें तर्णण और श्राद्ध करनेकी आज्ञा संहिता ग्रन्थोंमें सर्वत्र बतलाई है परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके समान मिथ्यात्वक्रियासे पाखंड फैलानेवालोंने श्राद्ध और तर्णणका निषेध किया है, पापकर्म बतलाया है। इसीलिये—

पात्रेभ्यो दीयते दानं परमा सह श्रद्धया।
तच्छ्राद्धं गृहस्थानां कर्तव्यं हि दिने दिने ॥

भावार्थ—सुपात्रकेलिये परम श्रद्धाभक्तिसे दान देना सो श्राद्ध है। ऐसा श्राद्ध गृहस्थोंको प्रतिदिवस करना चाहिये। इसोलिये 'इन्द्रनंदो संहिता'में बतलाया है कि--

"तत्तो परं कज्जं सद्धं तप्पं हि विसेसेण"

भावार्थ—स्नान पूजा आदि प्रातःकालको क्रियाओंका आचरणकर पीछेसे श्राद्ध और तर्पण करना चाहिये अर्थात् सुपात्रके लिये दान देकर पोछेसे भोजन करना चाहिये।

जिनागममें श्राद्धका अर्थ श्रद्धापूर्वक पात्रको दान देना माना है और तर्पणका अर्थ तृप्तिपूर्वक पात्रको दान देना माना है ऐसा श्राद्ध और तर्पण मोक्षमार्गको प्रदान करनेवाला पवित्र सम्यक् आचरण है इसोलिये सोमदेव भगवान्‌ने कहा है कि—

निर्निमित्तं न कोपीह जनः प्रायेण धर्मधीः।
अतः श्राद्धादिकाः प्रोक्ताः क्रियाःकुशलबुद्धिभिः॥

(यशस्तिलक १०८ पत्र)

भावार्थ—अच्छे निमित्त मिलनेपर ही भावोंमें विशुद्धता पूर्वक धर्मबुद्धि होती है। इसलिये आचार्योंने गृहस्थोंको शुभनिमित्तोंके मिलनेपर श्राद्ध तर्पण आदि क्रिया करनेकी आज्ञा प्रदान की है। इसका यही अभिप्राय है कि यदि पात्रके लिये दान करनेकी धर्मबुद्धि नित्य नहीं होती है तो अच्छे निमित्त मिलनेपर तो दान करे।

लौकिक धर्म।

जावदु णिम्मल भावो तावदु सोचं णरो पक्कुवीद्

(इन्द्रनंदी स०)

जबतक मनकी निर्मलता होकर मनकी ग्लानि दूर न हो तबतक शौचसे शुद्धि करे। जिनागममें लौकिकधर्मका वर्णन अनेक शास्त्रोंमें आया है। कितने विद्वान् लौकिक धर्मका अर्थ अन्य मत या मिथ्या-दृष्टियोंका धर्माचरण बतलाते हैं। मिथ्यादृष्टियोंके समस्त आचरण मिथ्या हैं। हिंसा-पाप-दुर्गतिके कारण हैं। सम्यक् आचरण नहीं हैं इसीप्रकार लौकिक शुद्धि भी जिनागममें सर्वत्र बतलाई है, इसीप्रकार कितने ही जैन विद्वान् मिथ्यादृष्टियोंकी मानी हुई शुद्धिको ही लौकिक शुद्धि कहते हैं। मिथ्यादृष्टियोंके मतके अनुसार बतलाई शुद्धिका उद्देश्य और भाव केवल अनात्मसम्बन्धी शुद्धि है। आत्माके विचार-रहित हिंसाजनक कार्योंसे आत्माको मोक्ष और पापरहित अवस्था मानना मिथ्यात्व है, निंद्य है, संसारका कारण है।

यों तो श्री जिनागममें भगवानकी पूजा करनेकेलिये स्नानशुद्धि बतलाई है। **"अहवा जिणवर पूज्ज विहाणे, णिम्मल फासुय जलकय ण्हाणे"** भावार्थ—भगवानकी पूजा करनेकेलिये प्रासुक जलसे शुद्धि करना चाहिये, इसप्रकारकी शुद्धि सम्यक्चारित्ररूप भावोंको विशुद्ध करनेवाली और पुण्य उत्पादन करनेकेलिये प्रधान कारण भूत है। यदि पूजाके समय स्नान नहीं किया जाय तो प्रथम तो अशुद्ध वस्त्र और अशुद्ध शरीरसे भावोंकी विशुद्धि होती नहीं है। दूसरे परम

पवित्र वीतराग प्रभुका स्पर्श स्नानादिकके द्वारा शुद्ध शरीर किये विना हो नहीं सकता है और प्रभुका स्पर्श किये विना सातिशय पुण्य, भगवत् शरीरका प्रक्षालन नहीं हो सकता है। पूजा प्रक्षालके विना होती नहीं है। इन्द्रादिक देव चक्रवर्ती नारायण महान पुरुषोंने स्नानादिककी शुद्धि पूर्वक ही जिनेन्द्रदेवकी मूर्तियों (प्रतिमा) की पूजा की है और स्नान कर भगवानकी पूजा करना ऐसी जिनागमकी आज्ञा है तब पूजाकेलिये स्नान करना लौकिक धर्म (मिथ्यामतियोंका) माना जाय या पूजाका अङ्ग माना जाय ? पूजाकेलिये स्नान करना पूजाका ही अङ्ग मानना पड़ेगा। इसीप्रकार मुनिदानकेलिये शुद्धि करना, स्नान शुद्ध वस्त्र शुद्ध धारण करना यह सब दानका अङ्ग माना जायगा। इसीप्रकार अपने व्रतोंकी रक्षाकेलिये गृहस्थ स्नानसे शुद्ध होकर भोजनपानक्रिया करे तो वह क्रिया व्रतोंका अङ्ग माना जायगा। मल मूत्रके त्याग करनेपर अशुद्ध विष्टा रजस्वला स्त्री और चांडालादिकके स्पर्श हो जानेपर जो शुद्धि की जाती है वह सामायिक जप आदि व्रतोंकी निर्मलतासे पालन करनेकेलिये की जाती है इसीलिये प्रतिष्ठापना समितिका पालन मुनिजनोंको करना पड़ता है। उनकी यह क्रिया मूलगुणमें मानी है। क्रियाभ्रष्ट होनेपर पुनर्दीक्षाका प्रायश्चित्त वतलाया है। यदि प्रतिष्ठापना समितिके समय मुनि शौच (शुद्धि) न करे तो उसका मुनिपना नष्ट हो जायगा और मुनि गंदा नंगा भील वन जायगा। इसीप्रकार स्त्रीका संग करनेवाला गृहस्थ शरीर-शुद्धि न करे तो उसके समस्त आचरण मलिन और निकृष्ट होकर पवित्र जैनधर्मकी पवित्रताको नष्ट करनेवाले पातकीके समान हो

जायेंगे। मिथ्यादृष्टि लोग जिसप्रकार गंगा नदी आदि नदियोंमें स्नान कर पापसे मुक्त होना मानते हैं अथवा स्नान करनेसे वैकुण्ठ वास मानते हैं, जैनधर्म इसको मिथ्या बतलाता है क्योंकि पानीमें अनंत जीवोंकी हिंसा करनेसे पापोंसे मुक्ति किसप्रकार होती है? स्नानसे शरीर शुद्धि मानना यह तो दूसरी बात है परन्तु स्नानसे मोक्ष मानना यह मिथ्या बात है। यदि स्नानसे ही मोक्ष हो जाती तो जप तप ध्यान संयम आदि सर्व व्यर्थ हो जाते। इसीप्रकार सूतक पातक आदि अशुद्धतासे मुनिदान और भगवानकी पूजा नहीं होती है। यदि सूतक पातक धर्म अन्य मतका मान लिया जाय तो 'त्रिलोकसार' और 'षट्प्राभृत'में सूतक पातक मनुष्यके हाथसे आहारदान देनेका और भगवानकी पूजा करनेका निषेध संहिता ग्रन्थोंमें क्यों किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जो जो शुद्धि मिथ्यादृष्टी लोगोंने बतलाई हैं वे ही समस्तप्रकारकी शुद्धि जिनागममें बतलाई हैं। यह बात दूसरी है कि मिथ्यादृष्टी लोगोंका शुद्धि माननेका उद्देश्य अनात्म, हिंसारूप और संसारका वर्द्धक है। मोक्षमार्गसे पराङ्मुख असत्य है, निंद्य है, परन्तु जिनागममें शुद्धियोंका उद्देश्य सम्यक्चारित्रकी सिद्धि, मोक्षमार्गकी स्थिरता और धर्माङ्गोंका परिपालन करना बतलाया है यदि शुद्धि न की जाय तो धर्माङ्गोंकी पूर्ति भी नहीं होगी। मोक्षमार्गकी स्थिरता और सम्यक्चारित्र नहीं होगा। सम्यक्चारित्रके बिना पारलौकिक धर्म भी नहीं होगा, इतना ही नहीं किन्तु मनकी ग्लानि मनवचनकाय और पदार्थोंकी शुद्धिके बिना जैनधर्म संसारमें मलिन ही दीखेगा। जैनधर्म केवल हास्यका मन्दिर हो जायगा।

क्षेत्रशुद्धि, आदि जिनको व्यवहार कार्य हम समझ रहे हैं परन्तु वे समस्त कार्य व्यवहार नहीं है किन्तु हमारे वे समस्त धर्म कार्य हैं उनका समावेश लौकिक धर्ममें होता है और आचार्योंने उन समस्त कार्योंको धर्म ही माना है। इसीलिये 'इन्द्रनन्दी संहिता'में लौकिक धर्मका स्वरूप यह बतलाया है।

लोगुत्तरो इदि धम्मो लोगियधम्मो जिणेहिं णिदिट्ठो।
पढमे भंतरशुद्धी पच्छा दु बहिब्भया सुद्धी॥ १ ॥
यजणे जिणंददेण्हाणं धम्माय णिदिट्ठो।
सगलीकरणं मुद्दाण्हाणं दु हवे सुधम्माय॥ २ ॥

भावार्थ—धर्म दो प्रकार है एक लौकिक धर्म दूसरा अलौकिक धर्म। लौकिकधर्मसे शरीर मन वचन और क्षेत्र द्रव्य आदि बाह्य समस्त प्रकारके पदार्थोंकी शुद्धि होती है और लोकोत्तर धर्मसे एक आत्मा कर्म मल रहित परम विशुद्ध होती है। जिनेन्द्र भगवानकी पूजाके लिये स्नानसे शुद्धि करना सो यह लौकिकधर्म है। सकली-करण और मुद्राधारण करनेके लिये स्नान और यंत्र द्वारा शुद्धि करना भी लौकिक धर्म है। आगे इस प्रकरण लौकिकधर्मकी विशेष शुद्धियां बतलाई हैं। यथा—

गेहत्थु णिच्चण्हाणं करोदु देउच्चणापरिग्गाहे।
एवं जमिणो मादगहि संसग्गे ण्हाणं मणं णो॥
बाहिरसुद्धीहिं विणा जिणंदपूयाधियारदाणत्थि।
तह बाहर सुद्धीहिं विणा भोजणपाणं च ण होई॥

भावार्थ—गृहस्थोंको नित्य स्नान कर शुद्धि करना यह धर्मका अंग है। मुनियोंको चांडाल आदिके स्पर्श करनेपर शुद्धि करना यह भी मुनिधर्मका अंग है। बाह्य स्नानादिक शुद्धिके विना भगवानकी पूजा और भोजनपान आदि क्रिया नहीं होती है। शुद्धिके विना गृहस्थको पूजादिक करनेका अधिकार ही नहीं है। आगे शुद्धिका विशेष खुलासा बतलाते हैं—

हदणेहिं मुत्तणेहिं मंत्तेहिं सुद्धी करोदु तोएण।
मट्टिकया इट्टिकया विभूदिणा गोमयेणा वापि॥

भावार्थ—मलमूत्रके त्याग करनेके पश्चात् पानी और मंत्रसे शुद्धि करना चाहिये। मिट्टी-पकी ईंटका चूर्ण भस्म (राख) और गोबरसे शुद्धि करनी चाहिये।

जिस प्रकार शरीरकी शुद्धि मिट्टी गोबर पानी और मंत्रसे होती है उसी प्रकार क्षेत्र और अन्य पदार्थोंकी शुद्धि पानी गोबर मिट्टी भस्म मंत्र आदिसे की जाती है।

राजवार्तिकमें कालशुद्धि आदि बतलाई हैं। वे समस्त मोक्ष-मार्गकी सिद्धिके लिये व्यवहार-धर्मके अंगभूत बतलाई हैं। यदि कालशुद्धि न मानी जाय तो रजस्वला, सूतक पातक मनुष्यकी शुद्धि किस प्रकार की जाय? यदि दूसरी अग्निशुद्धि न मानी जाय तो होम, निर्वाण-पूजा, मलिन बर्तनोंकी शुद्धि आदि कार्य नहीं होंगे। तीसरी भस्मशुद्धि न मानी जाय तो बर्तनकी शुद्धि करना कठिन हो जायगा। चौथी मिट्टीसे शुद्धि न मानी जाय तो गृहकी शुद्धि न होगी। जलसे

शुद्धि न मानी जाय तो मल मूत्रसे लिप्त वस्त्र आदि शुद्ध न हो सकेंगे। ज्ञानशुद्धि न मानी जाय तो शुद्धाशुद्धिका मार्गही नष्ट हो जायगा इसीप्रकार गोवरसे शुद्धि न मानी जाय तो रोगादि दूषित आवहवा और मिष्ठा आदिकी अपवित्रता नष्ट नहीं होगी। इसलिये ये आठों प्रकारकी शुद्धि धर्मके अंगभूत हैं इसीलिये इन्द्रनंदीसंहितामें बतलाया है—

"लोगियधम्मस्साविय हवे पमाणं सुदी तहा अण्णं"

भावार्थ—लौकिकधर्मके समस्त आचरण समस्त क्रियायें समस्त प्रकारकी शुद्धि और मनकी ग्लानिको दूर करनेवाले समस्त चाल-चलन श्रुतिके समान प्रमाणभूत हैं।

जैणाणं सव्वोविय लोगिगविहिउ पमाणमुद्दिट्ठो।
जह सम्मत्तणहाणी जह ण व्रते दूसणं णत्थि ॥*

भावार्थ—समस्त लौकिकाचार जैनागमसे प्रमाण भूत हैं अर्थात् सम्यक्चारित्ररूप हैं जिनसे सम्यग्दर्शकी हानि न होतो हो और जिनसे व्रतोंमें दूषण नहीं आता हो।

---

* सर्वोपि लौकिकाचारः प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र नो व्रतदूषणं ॥

समस्त लौकिकाचार धर्मस्वरूप मान्य हैं जिनसे सम्यग्दर्शनमें हानि न हो और व्रतमें दूषण नहीं आता हो।

क्षेत्रशुद्धिमें गोमयशुद्धिका विचार

पूतमृद्गोमयक्षीरवृक्षत्वक्क्वाथहस्तया ।
संमार्ज्य प्रोक्ष्यतेप्यासौ स्नातालंकृतकन्यका ॥ १०० ॥

(प्रतिष्ठापाठ मसजिद खजूर दि० जैन पं० मन्दिर देहली)

भावार्थ— वेदीको पवित्र मिट्टी, पवित्र गोवर, दुग्धवाले वृक्षोंकी छालका काढ़ासे स्नानकी हुई कन्या अपने हाथसे झाडकर (जीव-जंतुका संमार्जन कर) सिंचन करे ॥

※ ववहारसोहणाए परमट्ठाए तहा परिहरउ ।
दुविहा चावि दुगंच्छा लोइय लोगुत्तरा चेव ॥ ५५ ॥
(मूलाचार पत्र १२१ उत्तरार्द्ध)

टीका—जुगुप्सा गर्हा द्विविधा द्विप्रकारा, लौकिकी-लोकव्यवहारशोधनार्थं सूतकादिनिवारणाय । लौकिकी जुगुप्सा परिहरणीया । तथा रत्नत्रयशुद्ध्यर्थं परमार्थार्थं लोकोत्तरा च कार्येति !

संजममविराधंतो करेउ ववहारसोधणं भिक्खू ।
ववहार दुगंच्छाविय परिहरउ वदे अभंजत्तो ॥

टीका—भिक्षुः संयमं चारित्रं अविराधयन् अपीडयन् करोतु व्यवहारशोधनं, लोकव्यवहारशोधनं प्रायश्चित्तं च व्यवहारजुगुप्सां च । येन कर्मणा लोके विशिष्टजनमध्ये कुत्सितो भवति तत्कर्म परिहरतु । च व्रतान्यहिंसादीनि अभंजयन् अखंडयन् । किमुक्तं भवति संयममविराधयतु । व्यवहारजुगुप्सां च परिहरतु साधुरिति ।

गोमयेन विलुप्तायां सिक्तायां चंदनाम्भसा ।
पुष्पोपहारयुक्तायां वेदिकां परिकल्पयेत् ॥ ७४ ॥

(प्रतिष्ठापाठ)

भावार्थ—पवित्र गोवर और चंदनके जलसे वेदीको सिंचन कर पुष्पोंसे सुशोभित करें।

एदं पायच्छित्तं चिराविऊण जिणालये अरण्णे वा ।
तो पच्छा आयरिया लोयस्स विचित्तगहणत्थं ॥३१२॥
जिणभवणांगणदेसे गोमयगोमुत्तदुद्धदहिएहिं ।
वयसहिएहिं कराविय सत्तमंडलं कुंडं ।
तो तं मुडयसीसं वयसारियमंडलो मुच्छसुखससो ।
जलपंचगव्वघयदहिपयगंधजलगाहिपुण्णोंहि ।
वरवारिएहि समं अहि सिंचसंघ संति घोसेण ॥ ३१४ ॥

(प्रायश्चित्त चूलिका सं०)

भावार्थ—विशिष्ट दोषकी शुद्धिकेलिये आचार्य श्रीजिनालय अथवा अरण्यमें सात मंडल कुंडको वनवावे। प्रथम श्रीजिनभवनके प्रांगणको पवित्र गोवर गोमूत्र दधि दुग्ध गंधोदकसे भूमिको सिंचन कराकर और उसका (प्रायश्चित्त ग्रहण करनेवाले) मस्तकका मुन्डन कराकर जल पंचगव्य दुग्ध दही गंधोदकसे छींटा देकर शरीरकी शुद्धिको प्रकट कर पुनः प्रायश्चित्त देकर शुद्धिकी घोषणा करे।

मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च ।
शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत् ।

भावार्थ—मिट्टी ईंटाका चूर्ण भस्म अथवा गोवरसे शुद्धि करे।

तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यंभः शुष्कगोमयखंडकम् ॥ २ ॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छलाकफलादिकं।
प्रासुकं न भवेत्स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥

(श्लोकवार्तिक।

भावार्थ—नदीके झरनेका जल, सूखे गोवरका टुकड़ा (कंडा उपला) भस्मादिक, अपने आप गिरी हुई मयूरपिच्छ, सूखी तुंबी आदि प्रासुक चीजें मुनीश्वर विना अन्यके दिये ग्रहण करें। उसमें गोवरका ग्रहण करना शुद्धिकेलिये मुनीश्वरको वतलाया है। मुनीश्वर गोवरसे शुद्धि करते हैं यह वात अनगारधर्मामृत, आचारसार और मूलाचारमें स्पष्ट वतलाई है। यथा—

संस्कृत भाषामें गोवरको विकृति भी कहते हैं। विकृतिको मुनीश्वर ग्रहण कर शुद्धि करते हैं। उक्तं च 'धर्मामृते'—

वसतिविकृतिवर्हवृसीपुस्तककुण्डीपुरस्सरं श्रमणैः।
श्रामण्यसाधनमवग्रहविना ग्राह्यमिन्द्रादेः ॥ ५४ ॥

(पत्र २२६ धर्मामृत चतुर्थाध्याय)

"ग्राह्यं स्वीकार्यं। किं तत् श्रामण्यसाधनं-श्रामण्यस्य-अध्ययनस्य कायशुद्धेः संयमादेः साधनं सिद्ध्यंगं। कैः श्रमणैः तपस्विभिः किं विशिष्टं वसतीत्यादि। वसतिः प्रतिश्रयः। विकृतिः गोमयदग्धमृत्तिकादि वर्हं पिच्छं। वृसी व्रतिनां आसनं कुन्डी कमंडलुः"

भावार्थ—संयम अध्ययन और शरीरकी शुद्धिके लिये मुनीश्वर वसतिका-गोवर मिट्टी भस्म तुम्बी मयूरकी छोड़ी हुई पांख और आसनकेलिये सूखी पडी हुई घासको विना दिये हुए भी देव आज्ञासे ग्रहण करें। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मुनीश्वर गोमय (गोवर) से शरीरकी शुद्धि करते हैं।

गोवरसे मुनीश्वर शुद्धि करते हैं यह आचारसारसे स्पष्ट वतलाते हैं।

पश्चाच्छुचिं प्रकृत्येष्टकाविकृत्यादिभिः पुनः।
स्यात् क्षालितासनकाः सौवीरोष्णजलादिभिः ॥८१॥

(आचारसार पत्र ६१ नवमां अध्याय)

भावार्थ—मुनीश्वर गोवर (विकृति) मिट्टी भस्म आदिसे शरीरकी शुद्धि कर चर्याके लिये गमन करें।

मृत्स्ना गोमयेनापि भूमिशुद्धिं च कारयेत्।
शुद्धिः कायस्य कर्त्तव्या विकृत्येष्टकयापि वा ॥

भावार्थ—भूमकी शुद्धि मिट्टी और गोवरसे करे और शरीरकी शद्धि मिट्टी गावर भस्म आदिसे करे।

लौकिकशुचित्वमष्टविधं—काल अग्नि भस्म मृत्तिका गोमय-सलिल ज्ञान निर्विचिकित्सत्वभेदात्।

(राजवार्तिक मुद्रित ३२८ पत्र)

भावार्थ—१ काल २ अग्नि ३ भस्म ४ मृत्तिका ५ गोमय ६ सलिल (जल) ७ ज्ञान और निर्विचिकित्सत्वभेदसे व्यवहार धर्मकी शुद्धि आठ प्रकार है।

लौकिकं शुचित्वं कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलज्ञाननिर्वि-विचिकित्सत्वभेदादष्टविधम्" (चारित्रसार चामुण्डरायकृत)

भावार्थ—व्यवहार धर्मकी शुद्धि १ काल २ अग्नि ३ भस्म ४ मिट्टी ५ गोबर ६ पानी ७ ज्ञान और ८ निर्विचिकित्सा भेदसे आठ प्रकार होती है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार पं० सदासुखकी टीकामें गोवरसे शुद्धि बतलाई है।

आलौकिक (व्यवहारधर्म) शौचपना है सो आठ प्रकार है— "कालशौच, अग्निशौच, भस्मशौच, मृतिकाशौच, गोमयशौच, जल-शौच, पवनशौच और ज्ञानशौच ये आठ शौच शरीरके पवित्र करने-कूं समर्थ नहीं हैं। लौकिकजनोंके व्यवहार छोड़ें बड़ा अनर्थ हो जाय। हीन आचारकी ग्लानि जाती रहै तो समस्त एक हो जाय, तदि परमार्थ हू नष्ट हो जाय यातैं अनादिकालतैं बाह्य शुचिताकी मानता देखि मनकी ग्लानि मैटले हैं। लौकिक शौच परिणामनिकी ग्लानि मैठे है। व्यवहारमें उज्वलता जाति कुलकी उच्चता जनावे है।

अष्ट प्रकार शौच लौकिकमें अनादिका प्रवर्त्त है यातैं आगमकी आज्ञा मानना अपना हित है बहुरि जगतमें प्रकट देखिये है कि कर्णके मलतैं नेत्रमलकूं अर यातैं नासिका मलकूं, यातैं कफ लालादिक मुखके मलकूं याते मूत्रकूं यातैं भिष्टाकूं अधिक अधिक अशुचि मानियें हैं अर जो समस्त मलकूं समान मानिये तो समस्त आचार उपद्रित होय विपरीत होय जाय।

लौकिक शुचि अष्ट प्रकार है कोऊ कालशौच, जो प्रमाण काल व्यतीत भये लोकमें शुचि मानिये हैं। कोऊ पदार्थ अग्निकरि संस्कार स्पर्शन करि शुचि मानिये। कोऊ पवन करि, कोऊकूं भस्मते माजने करि कोऊकूं मृत्तिकातें कोऊकूं जलतें कोऊकूं गोवरतें कोऊकूं ज्ञानमें ग्लानि मिट जानेसे लौकिक जन मनमें शुचिपनाका संकल्प करे हैं।

कितने ही धर्मकी मर्यादा लोप करनेवाला मनुष्य गोवरसे शुद्ध करनेमें घवराते हैं। और गोवरको पशुकी भिष्टा कह देते हैं, परन्तु गोवर भिष्टा नहीं है। ऐसे लोग चर्बीसे वनेहुए महा अपवित्र साबुनसे हाथ धोते हैं शुद्धि करते हैं और वालोंकी वनी हुई बुरससे दांतोन कर मुख शुद्धि करते हैं।

यदि गोवर अशुद्ध माना जाय तो गोवरसे रसोई बाटी आदि वनाना आदि जैन लोगोंमें नहीं होता। लीपना पोंतना आदि कार्य जैन लोग नहीं करते परन्तु भारतके समस्त जैन प्रायः गोवरसे कार्य करते हैं इसलिये विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं हैं।

दूध मोती—आदि कितनेही पदार्थ शुद्ध हैं। यद्यपि उनकी उत्पत्ति स्थान मलिन हैं परन्तु वे पदार्थ मलिन नहीं हैं। मोती भगवान्‌पर चढ़ाये जाते हैं और मोतीकी प्रतिमाको सब लोग पूजते हैं। इसीप्रकार दूधका आहार तीर्थकरोंने मुनि अवस्थामें ग्रहण किया है। इसलिये शुद्धि प्रकरणमें कितने ही पदार्थ शुद्ध माने हैं। वास्तवमें देखा जाय तो दूध आदिक पदार्थ स्वतः शुद्ध हैं। ग्रन्थ पढ़ जानेसे सबका पृथक विचार नहीं किया जाता है। परन्तु आगम दूध मोती आदि पदार्थोंको शुद्ध मानता है।

सज्जाति

दाता सज्जाति संपन्न होता है। जो दाता सज्जातिसंपन्न नहीं है उसको जिनमुद्रा (जिनदीक्षा) धारण करना और सुपात्रोंकेलिये दान देने आदिका अधिकार नहीं है। जिन जातियोंमें विधवाओंका करेवा (धरेजा,पाट) होता है, जिन जातियोंमें विजातीय स्त्री (कन्या) के साथ विवाह होता है और जिनका पिंड शुद्ध नहीं है वे जातियां असज्जाति कहलाती हैं। ऐसी जातियोंको तथा उनकी संतानको जिन-दीक्षादि उत्तम कार्य करनेका अधिकार नहीं है। खंडेलवाल, पद्मा-वतीपुरवाल, परवाल, अगरवाल, पल्लीवाल आदि अनेक जाति हैं, प्रत्येक जातिवालोंको अपनी ही जातिमें विवाहसंबंध करनेपर सज्जातित्व कायम रहता है और एक जाति दूसरी जातिमें विवाहसंबंध कर लेनेपर उनका सज्जातित्व नष्ट हो जाता है। इसीलिये आगममें सजातीय कन्याके साथ विवाहसंबंध करनेपर ही धर्मपत्नीका स्वरूप विवाहिता स्त्रीको बतलाया है और उस सजातीय धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुई संतान गोत्रकी रक्षा (कुलकी स्थिरता) और समस्त धर्मके अधि-कारोंको प्राप्त करनेकी योग्यता रखती है। इसलिये सज़ातीय संबंध-वाले भव्यजीव ही जिनमुद्रा और मुनिदानके अधिकारी हैं। यही बात 'लाटीसंहिता'में बतलाई है—

देवशास्त्रगुरून्नत्वा बंधुवर्गात्मसाक्षिकम्।
पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता ॥१७८॥
तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा ।

आत्मज्ञातिः परज्ञातिः कर्मभूरुढिसाधनात् ॥१७९॥
पारिणीतात्मज्ञातिश्च धर्मपत्नीति सैव च ।
धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥१८०॥
सुनुस्तस्याः समुत्पन्नः पितुर्धर्मेऽधिकारवान् ।
स पिता तु परोक्षः स्याद्दैवात्प्रत्यक्ष एव च ॥१८१॥
स सुनुः कर्मकार्येपि गोत्ररक्षादिलक्षणे ।
सर्वलोकविरुद्धत्वादधिकारी न चेतरः ॥१८२॥
परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम् ।
भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥१८३॥

भावार्थ—देवशास्त्र और गुरुकी पूजापूर्वक बंधुवर्गकी साक्षीसे जिस कन्याका विवाह किया है वह स्त्री पाणिगृहीता है और जिस कन्याके साथ विवाहसंबंध नहीं किया है परन्तु रखो है वह स्त्री दासी चेटिका कहलाती है ।

विवाहिता स्त्रीके दो भेद माने हैं—एक भोगपत्नी और दूसरी धर्मपत्नी । विजातीय कन्यासे विवाह किया हो वह भोगपत्नी है और सजातीय कन्याके साथ विवाह किया हो वह स्त्री धर्मपत्नी है । यह व्यवस्था कर्मभूमिमें है ।

आत्मज्ञाति (सजातीय) की विवाहिता स्त्री धर्मपत्नी है । धर्मपत्नीको पूजा दान आदिक समस्त धार्मिक शुभकार्य करनेका अधिकार है । धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुई सन्तानको पिताके समस्त दान पूजादिक धार्मिक कृत्य करनेका अधिकार है अथवा वही पिताके धर्मका अधिकारी होता है । यदि पिताका स्वर्गवास हो जाय तो

पिताका आत्मज समस्त सम्पत्तिका अधिकारी है इसलिये वह प्रत्यक्ष पिता होता है। उस संतान (पुत्र) को पिताके लौकिक असि मसि आदि कर्तव्य तथा गोत्रकी रक्षा (वंशवृद्धि) करना आदि कार्य करनेका अधिकार है परन्तु भोगपत्नीसे उत्पन्न हुई सन्तानको ऊपर कहे हुए समस्त अधिकार नहीं होते हैं। विजातीय कन्याके साथ विवाह होनेपर वह स्त्री भोगपत्नी कहलाती है और उसको भोगमात्रका ही अधिकार है। अन्य धार्मिक अधिकार विजातीय विवाहिता स्त्रीको नहीं होते हैं।

विवाहप्रकरणमें आचार्य ब्रह्मसूरि स्वामीने अपनी संहितामें विवाह सजातीय कन्याके साथ होता है और वह धर्मपत्नी होती है।

"अथ कन्या सजातीया भिन्नगोत्रभवोद्भवा"

भावार्थ—सजातीय और भिन्न गोत्रकी कन्याके साथ ही विवाह करना चाहिये।

श्रावकाचार बतलाता है कि "सधर्मिणे सरूपाय कन्याभूरत्न-मुत्सृजेत्" उसकी संस्कृत टीकामें लिखा है कि "सधर्मिणे सजातीये कुलमंत्रव्रतक्रियासमानधर्मिणे" भावार्थ—कन्या भूमि और रत्नादिक पदार्थोंकी समदत्ति अपनी जातिका जिसका कुल देव, मंत्र, व्रत, क्रिया समान है ऐसे सधर्माको प्रदान करे इससे भी सजातीयमें ही विवाह होता है ऐसा सुतरां सिद्ध होता है। सधर्माका अर्थ "नीति-वाक्यामृत" में 'सजातीयाय' ऐसा खुले शब्दमें बतलाया है।

आदिपुराणमें दीक्षा ग्रहण करनेका अधिकारी कौन होता है? उसका वर्णन करते हुए बतलाया है कि—

विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः ।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥
(आदिपुराण पत्र १४३)

भावार्थ—जिसके कुल और गोत्रकी विशुद्धि है वह उत्तम दीक्षाका अधिकारी है। कुलकी शुद्धता सज्जातिमें ही होती है। असज्जातिमें कुलकी शुद्धता नहीं रहती है। जिसके वंशपरम्परासे माताकी संतति रजवीर्यसे शुद्ध है और जिसके वंशपरम्परासे पिताकी संतति वीर्यतासे शुद्ध है वे ही कुल शुद्ध जाति शुद्ध कहलाते हैं।

इसका विशेष अर्थ यह है—

विशिष्टान्वयजो शुद्धो जातिकुलविशुद्धभाक्

भावार्थ—जिसकी जाति (माताकी शुद्ध रजवीर्यसंततिको जाति कहते हैं) और कुल (पिताकी शुद्ध वीर्यसंततिको कुल कहते हैं) विशुद्ध हो ऐसे वंशपरम्परागत विशुद्ध कुल जातिवाले भव्यको दीक्षा होती है। विजातीयविवाह करनेपर जाति और कुलकी विशुद्धता नष्ट हो जाती है।

उत्तम दीक्षाका अधिकारी।

देसकुलजाइसुद्धो विसुद्धवण्णो णिव्वेगपरो।
रोगाइदोसरहिओ अंगपूण्णो दिढचित्तो ॥

भावार्थ—देस, कुल, जाति और वर्णसे शुद्ध, वैराग्यवान्, रोगरहित, पूर्ण अंगवाला और स्थिरचित्तवाला मनुष्य दीक्षाका अधिकारी है। जिसका कुल ("कुलं सजातीयगणे" इति मेदनीकोशः) धरेजा

आदि करनेसे मलिन नहीं हो और जिसकी जाति माता विजातीय होनेसे मलिन न हो तथा व्यापारहीन न हो वह कुल जाति और वर्णसे शुद्ध कहलाता है। कहींपर कुल शब्दका अर्थ पितृपक्ष और जाति शब्दका मातृपक्ष अर्थ बतलाया है उसका भी यही आशय है कि जिसका परम्परासे पिताके वीर्यकी शुद्धि हो, पिता विजातीय न हो और जिसकी माताका रजवीर्य परम्परासे शुद्ध हो। माता विजातीय न हो, नीचगोत्रा न हो, धरेजा (करावा) वाली न हो इसप्रकार जहां कुल और जाति शुद्ध होती है ऐसी संतान और ऐसे विशिष्ट कुलवान जातिवान सज्जातिको उत्तम दीक्षा धारण करनेका अधिकार है। कुलशङ्कर, जातिशंकर और नीच गोत्राको उत्तम दीक्षाका अधिकार नहीं है। यही बात आचारसारमें भगवान् श्री वीरनंदी स्वामीने बतलाई है—

प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन।
प्राग्विज्ञातसुदेशो द्विजनृपतिवणिक्वर्णवर्योंगपूर्णः॥
भूभृल्लोकाविरुद्धः स्वजनपरिजनो मोचितो वीतमोह-
श्चित्रापस्माररोगाद्यपगत इतिच ज्ञातिसंकीर्तनाद्यैः॥१०॥

भावार्थ—समस्त आचारशास्त्रकी मर्यादा जाननेवाला और लोकव्यवहारकी समस्त प्रकारकी उच्चता और नीचतारूप सदाचार असदाचार प्रवृत्तिको जाननेवाला वीतरागी ऐसा आचार्यको दीक्षा ग्रहण करनेवाले पात्रकी निम्नलिखित कारणोंसे निश्चित परीक्षा कर दीक्षा देनी चाहिये। दीक्षाको ग्रहण करनेवाला पात्रका देश (निवास स्थान क्षेत्र) सुयोग्य हो, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णमेंसे हो, इतो

हो अथवा व्रत धारण करनेकी शक्ति रखता हो। अंगसे परिपूर्ण हो, राजाकी आज्ञाका अपराधी न हो, लोकविरुद्ध (पतित या जातिच्युत) न हो। माता पिता कुटुम्ब परिवारसे दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा प्राप्त की हो, वैराग्यवान् हो, कोढ मृगी राजयक्ष्मा आदि भयंकर रोगसे ग्रसित न हो और जातिशंकर कुलशंकर आदि पिंडशुद्धिसे दूपित न हो।

जातिशंकरके यहांपर मुनीश्वर आहार ग्रहण कर लें तो उसका निकृष्ट फल बतलाया है।

दुब्भाव असुचि सूदग पुप्फवई जाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुपत्ते जीवा कुणरेसु जायंते ॥ ९७५ ॥

(त्रिलोकसार—श्री नेमिचन्द्रसिद्धांत चक्रवर्ती, पत्र २१८)

भावार्थ—खोटे भाव, अपवित्र मनुष्य, सूतक पातकी मनुष्य, पुष्पवती रजस्वला स्त्री, जातिशंकर और आदि शब्दसे नीचगोत्रजन्म, रोगी अंगहीन आदि सुपात्रमें दान देनेसे, और कुपात्रमें दान देनेसे मनुष्य (दाता) कुभोगभूमिमें कुमनुष्य होता है।

असज्जातिमें आहार ग्रहण करनेपर मुनीश्वरोंको प्रायश्चित्त बतलाया है।

जातिवर्णकुलोनेषु भुंक्तेऽजानन् प्रमादतः।
सोपस्थानं चतुर्थं स्यान्मासोनाभोगतो मुहुः ॥९३॥

[प्रायश्चित्तसंग्रह पत्र १९०]

भावार्थ—यदि मुनि जातिहीन या जातिसे न्यून (माताका विशुद्ध रज वीर्य संततिसे हीन विजातीय माता या धरेजाकी माता, वर्णसे हीन

।नकृष्ट व्यापार करनेवाला, कुलहीन या कुलसे न्यून (पिताका बीय संतति) से हीनता या न्यून विजातीय पिता) मनुष्यके घरपर प्रमादसे अज्ञानसे एक वार आहार ग्रहण कर लेवे तो सोपस्थान नामका प्रायश्चित्त होता है और वार २ अज्ञानतासे आहार ग्रहण करें तो पंचकल्याण नामका प्रायश्चित्त होता है।

जातिवर्णकुलोनेषु भुंजानोऽपि मुहुर्मुहुः।
साभोगेन पुनर्नूनं मूलभूमिं समश्नुते॥

भावार्थ—जाति कुल वर्णसे हीन अथवा न्यूनके घरपर यदि मुनि एक वार जानकर भोजन ग्रहण करे तो साभोग प्राश्चित्त है और जानकर अनेक वार भोजनकरे तो भूलसे पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।

इसलिये ही आचार्य शिवकोटि स्वामीने रत्नमालामें कहा है कि—

स्वकीया परकीया वा मर्यादालोपिनो नराः।
न माननीयाः किं तेषां तपो वा श्रुतमेव च॥ ५५॥
अतीचारव्रताद्येषु प्रायश्चित्तं गुरूदितम्।
आचरेज्जातिलोपं च न कुर्यादतियत्नतः॥ ५७॥

भावार्थ—अपने और दूसरोंके व्रत तपश्चरणादिक और जातिकी मर्यादाका लोप नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य जातिकी मर्यादाका लोप करते हैं वे मान्य नहीं हैं। उनके व्रत और उनका ज्ञान भी प्रशंसनीय नहीं है।

फिर भी व्रत और तपश्चरणकी मर्यादा लोप करनेवालोंकेलिये गुरूसे प्रायश्चित्त हो जाता है। परन्तु जातिका लोप (जातिभ्रष्टता

या जातिशंकर) भूलकर भी नहीं करना चाहिये। भावार्थ जाति लोप करने वालेका प्रायश्चित्त नहीं है।

इसीलिये संस्कारोंके लिये संहितामें बतलाया है कि—

नाभिजातफलप्राप्तौ विजातिष्विव जायते।

भावार्थ—विजातीयविवाहितासे उत्पन्न संतानको उत्तम फलकी प्राप्ति नहीं है। जिसप्रकार विधवाविवाह करानेवाले मनुष्योंको नहीं होती है। क्योंकि दस्सा (धरेजा-विधवा विवाह पाट या करावा करनेवाले) को शास्त्रमें पतित कहा है। पतितोंको तो भगवान्‌की पूजा (प्रक्षालपूर्वक) जिनप्रतिमाका स्पर्श यज्ञोपवीत आदि क्षुल्लक दीक्षाका भी अधिकार नहीं है। क्योंकि—

"पतिताः कुलधर्माच्च संस्कारे नाधिकारिताः"

जो कुल और धर्मसे पतित हो गये ऐसे दस्सों (धरेजा, करावा, विधवाविवाह आदि करानेवाले) को संस्कारों [यज्ञोपवीतादि संस्कारों] का भी निषेध है, इसलिये दस्सा तो मुनिदान और मुनि-दीक्षाके अधिकारी हैं ही नहीं। दस्साओंकी तो पिंडशुद्धि भी नष्ट हो जाती है। पिंडशुद्धि सज्जातिके स्थिर रखनेकेलिये प्रधान कारण मानी है।

पिंडशुद्धिः सुमूलैका कुलजात्योर्विशुद्धता।
संतानक्रमेणायाता सा सज्जातिः प्रगद्यते॥

भावार्थ—जाति और कुलकी विशुद्धता पिण्डशुद्धिपर निर्भर है। विधवाविवाह और विजातीयविवाहसे पिंडशुद्धि नष्ट हो जाती है। कुल और जातिकी संतानक्रम (वंशपरंपरा-संतान दर संतान) से प्राप्त हुई विशुद्धता ही सज्जाति है।

दान-पूजा-उत्तम दीक्षा आदिको धारण करनेका अधिकार सज्जातिको है इसलिये दानका दाता सज्जाति ही होना चाहिये, असज्जाति नहीं।

श्रावकका विशेष कर्तव्य।

"शास्त्रमूला धर्माखिलक्रिया"

श्रावकके समस्त क्रिया आचरण रीति नीति और व्यवहार-कार्य धर्ममूल होना चाहिये। श्रावकका भोजन, खाना पीना आदि समस्त कर्तव्य यत्नाचार पूर्वक और जिनागमको आज्ञानुसार ही होना चाहिये।

श्रावकका नित्य कर्त्तव्य।

जिनरूपधरं बिंबं सद्द्रव्यैरर्चयंति ये।
जिनपूजाफलं तेऽत्र लभंतेऽनेकधा पुरः॥
जिनरूपं धरं साधुं ये स्वर्थैरर्चयंति ते।
फलं लभते वहुधा जिनपूजाफलादिकं।
जिनरूपधरं शास्त्रं ये स्वर्थैरर्चयंति हि।
लभंते विमलं ज्ञानं केवलज्ञानसाधनं॥

भावार्थ—पुण्यकर्मके उदयसे लक्ष्मीको प्राप्तकरनेवाले श्रावकका नित्यका निरंतर आवश्यक कर्म यह है कि श्री जिनेन्द्र भगवानके स्वरूपको साक्षात् प्रकट करनेवाली जिन-मूर्तिका पूजन उत्तम द्रव्यसे करे। जो जिनप्रतिमाका पूजन करता है वह साक्षात् श्रीजिनेन्द्रदेवका ही पूजन करता है।

श्रीजिनेन्द्र भगवानके स्वरूपको धारण करनेवाले साधु (मुनि) की पूजा, आहारदानादि अपनी उत्तम द्रव्यसे करना चाहिये। वह भी साक्षात् श्रीजिनेन्द्र भगवानके पूजाके फलको प्राप्त होता है।

श्रीजिनेन्द्र भगवानके स्वरूपको धारण करनेवाले जिनागम (शास्त्र) का उद्धार अपनी द्रव्यसे नित्य करना चाहिये। वह केवलज्ञानका भागी होगा।

समदृष्टि देवशास्त्र और गुरुकी पूजा भक्ति सुश्रूषा वैयावृत्य आदि धार्मिक प्रधान कृत्योंकी रक्षाकेलिये की जाती है इसलिये श्रावकोंका ध्येय यही रहना चाहिये।

धनिक श्रावकोंका यह भी कर्तव्य है कि वे न्यायोपात्त द्रव्यसे जीर्ण शीर्ण जिनमंदिरोंका उद्धार करावें। जो शक्तिसंपन्न हो कर ऐसा नहीं करता है उसकेलिये शास्त्रोंमें बतलाया है—

शिथिले जिनगेहे सति सधना जैना उदास्यते वीक्ष्य।
तेषां गृहधनतेजोमानप्राणादिहानिः स्यात्॥

(दानशासन)

जिनमंदिर जीर्ण शीर्ण हो जानेपर यदि धनवान् लोग मंदिरकी जीर्ण अवस्थाको देखकर उदास हो जावे-मध्यस्थबन जावे तो उनके गृहका धन, तेज मान और प्राणोंकी हानि होती है।

जो श्रावक प्रतिमादिकेलिये धन देनेका वचन देकर फिर नहीं देवें तो—

वाग्दत्तं मनोदत्तं दारादत्तं न दीयते।
नरकान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

जो प्रतिमा आदिकेलिये द्रव्य दान देनेका संकल्प कर था, वचनों-से प्रतिपादन कर नहीं देवे तो वह नरकका दुःख प्राप्त करता है।

श्रावकका धर्म।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मेण सावया तेण तिणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सोवि॥

(रयणसार)

भावार्थ—जिनागममें श्रावकधर्म पूजा और दान वतलाया है। और यतिका धर्म ध्यान और अध्ययन वतलाया है। यदि श्रावक पूजा और दान नहीं करता हो तो उसको श्रावक नहीं कहना चाहिये और यति ध्यान तथा अध्ययन नहीं करे तो उसको यति नहीं मानना चाहिये।

जैनमात्रका मुख्य धर्म पूजा और दान रयणसारमें भगवान कुंद-कुंद स्वामीने वतलाया है। इतनाही नहीं किंतु जो श्रावक पूजा और दान प्रतिदिवस नहीं करता हो तो उसको जैन नहीं मानना चाहिये।

कितने ही जैनीभाई भगवानकी पूजा करना तो दूर रहा परन्तु भगवानके दर्शन तक नहीं करते हैं। उनको जैनी कहना कि मिथ्या-त्वी? भगवान कुंदकुंद स्वामीके अभिप्रायसे तो वे पूर्ण मिथ्यात्वी हैं। जिसप्रकार मुनिके नग्नत्व आदि मूलगुणोंमें बाधा हो तो वह मुनि नहीं माना जाता है उसी प्रकार जो जैनी भाई भगवानकी पूजा नहीं करता है, पानी छानकर नहीं पीता है और रात्रिमें भोजन करता है वह जैनी नहीं किंतु मिथ्यादृष्टी ही है।

श्रावकके बारह व्रतोंमें अतिथिसंविभागव्रत मुख्य माना है। वह अपनी आजीविका (कमाई) करते समय ही अतिथिसंविभाग व्रतके लिये भाग नियमसे निकालता है और इसप्रकारके भाग निकालनेको ही अतिथिसंविभाग व्रत आगममें बतलाया है इसलिये श्रावकको अपने उद्योग और आरंभजनित पापोंकी निवृत्तिके लिये नियमपूर्वक पात्रमें दान देना चाहिये। इसप्रकार दान करना यह उसका आवश्यक कर्म और मुख्यधर्म है, व्रत है।

जो श्रावक दान नहीं करता है वह जैन नहीं है, भगवान कुंदकुंदस्वामीने उसको जैन नहीं बतलाया है। परमागममें दानरहित जैनको मिथ्यादृष्टी कहा है।

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावयधम्मो सो होइ मोक्खमग्गो॥

(रयणसार)

भावार्थ—जो श्रावक अपना धर्म समझ कर प्रतिदिवस भगवानकी पूजा करता है और मुनियोंको दान देता है वह श्रावक सम्यग्दृष्टी है, वही मोक्षमार्गगामी है और वही श्रावक-धर्मको पालन करनेवाला है, वही सच्चा जैन है। जो श्रावक भगवानकी पूजा और दान नहीं करता है वह मिथ्यादृष्टी है।

प्रश्न—पंचमकालमें मुनि नहीं होते हैं? और न श्रावकको प्रतिमा हीके व्रत होते हैं इसलिये दान किसको देना चाहिये?

समाधान—मुनि पंचमकालके अन्तपर्यन्त नियमपूर्वक रहेंगे। ऐसा त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रन्थोंमें खुलासासे बतलाया है।

भगवान गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणमें भी यही बात बतलाई है।

एवं प्रतिसहस्राब्दं तत्र विंशतिकल्किषु।
गतेषु तेषु पापिष्ठः पश्चिमो जलमंथिनः॥
राज्ञां स भविता नाम्ना तदा मुनिषु पश्चिमः।
चन्द्राचार्यस्य शिष्यः स्यान्मुनिर्वीरांगजाह्वयः॥
सर्वश्रीरार्यिकावर्गे पश्चिमः श्रावकोत्तमः।
अग्निलः फाल्गुनसेनाख्या श्राविकापि च सद्व्रता॥
एते सर्वेपि साकेतवास्तव्या दुखमांत्यजा।
सत्सु पंचमकालस्य त्रिषु वर्षेष्वथाष्टसु॥
मासेष्वहः सुमासार्द्धमितेषु च सुभावना।
कार्तिकस्यादिपक्षांते पूर्वाह्णे स्वातिसंगमे॥
वीरांगजोऽग्निलः सर्वश्रीस्त्यक्त्वा श्राविकापि सा।
देहमायुश्च सद्धर्माद् गमिष्यंत्यादिमं दिवं॥
मध्याह्ने भूभुजो ध्वंसः सायाह्ने पाकभोजनं।
षट्कर्मकुलदेशार्थहेतुधर्माश्च मूलतः॥

भावार्थ—एक एक हजार वर्षके प्रति एक एक कलंकी होते हैं। बीस कलंकी व्यतीत होनेके बाद अन्तके हजार वर्षमें अन्तिम कलंकी जलमंथन नामका पापी होगा। उस समय भगवान चन्द्राचार्यका शिष्य वीरांगज नामके मुनि, सर्वश्री नामकी आर्यिका, अग्निल नामका श्रावक और फाल्गुनसेना नामकी श्राविका अयोध्या नगरीमें होंगे। जब पंचमकालमें तीन वर्ष ८॥ साढ़े आठ मास बाकी रहेंगे तब कार्तिक वदी अमावस दिवस स्वाति नक्षत्र प्रातःकालमें कलंकीके द्वारा

उपसर्ग होनेसे वे चारों जीव समाधिमरणपूर्वक मरकर प्रथम स्वर्गमें उत्पन्न होंगे। उसी दिवस राजा अग्नि धर्म कुल जाति आदि समस्त बातें नष्ट हो जायंगी।

इससे यह सिद्ध होता है कि पंचमकालके अन्तपर्यन्त मुनि रहेंगे। चारों प्रकारका संघ रहेगा, जो पंचमकालमें मुनिका सद्भाव नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

रयणसारमें मुनिधर्मका निरूपण करते हुए बतलाया है कि—

अज्जवसप्पिणिभरहे धम्मज्झाणं प्रमादरहिदुत्ति।
जिणुदिट्ठं ण हु मण्णइ मिच्छाइट्ठी हवे सो हु॥

(रयणसार)

भावार्थ—पंचमकालमें प्रमादरहित (सप्तम गुणस्थानमें प्रमाद रहित अवस्था होती है) धर्मध्यान होता है। यह श्रीजिनेन्द्रदेवने बतलाया है, जो यह नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

इसलिये मुनि तो पंचमकालके अन्तपर्यन्त रहेंगे ऐसा होनेपर भी जो दान नहीं करता है वह जैन नहीं है।

ण हि दाणं ण हि पूजा ण हि सीलं ण हि गुणं ण चरित्तं।
जे जइणा भणिया ते णेरइया होइ कुमाणसा तिरिया॥

जो दान नहीं करते हैं, पूजा नहीं करते हैं, शीलव्रत पालन नहीं करते हैं वे नरकके पात्र हैं।

आगममें दान पूजारहित श्रावकका स्वधर्म पराङ्मुख और मूढ़ बतलाया है। रयणसारमें बतलाया है कि—

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा।
दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच्छत्तमेव हो कट्ठं ॥
(रयणसार)

भावार्थ—कुष्ट रोगी (कोढ़ो) जिसप्रकार कुलका भंग (अपने वंशका नाश) करता है उसोप्रकार दान पूजादिक पुण्य कर्मोंका नाश मिथ्यात्व कराता है। मिथ्यादर्शनके प्रभावसे जीवोंके भाव दान देनेके और भगवानको पूजा करनेके नहीं होते हैं। जिनकी रुचि दान देनेकी नहीं होती है और न भगवानकी पूजा करनेकी रुचि होती है वे अवश्य ही मिथ्यादृष्टी हैं।

सम्यग्दृष्टीके भाव तो दान देना और भगवानकी पूजा करनेके नियमसे होंगे। जिसके जिनधर्मपर पूर्ण श्रद्धा है उसके भावोंमें जिनधर्मकी पूर्ण भक्ति है। जिसके भक्ति है उसके आत्मकल्याण करनेकेलिये पूजा और दानमें विशेष अनुराग नियमपूर्वक होगा ही। देव शास्त्र गुरुकी जिसके भक्ति है उसके ही सम्यग्दर्शन होता है ऐसा बतलाया है।

सम्यग्दृष्टी अपने प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक समय अपने हृदयमंदिरमें देव शास्त्र गुरुको स्थापन कर निरन्तर भक्तिमें लवलीन रहता है।

नवदेवार्चनं यस्य सततं भक्तिभावतः।
सम्यग्दृष्टिर्मतो देवैः पूजादानपरायणः ॥

भावार्थ—जो अरहंत १ सिद्ध २ आचार्य ३ उपाध्याय ४ सर्व-साधु ५ जिनागम ६ जिनधर्म ७ जिनचैत्य ८ और ९ जिनचैत्यालय

इसप्रकार नव देवताओंका अर्चन भक्ति और भाव जिसके निरन्तर है उसको ही सम्यग्दृष्टी माना है और वह सम्यग्दृष्टी पूजा और दान करना ही अपना धर्म समझता है।

इसलिये श्रावकका मुख्यधर्म पूजा और दान देना है। जो पूजा और दान प्रतिदिवस अपना आवश्यक कर्म समझ कर नियमपूर्वक करता है वही सच्चा जैनी है। इसलिये जैनमात्रको प्रतिदिवस पूजा और दान करना चाहिये।

गृहस्थ निरन्तर पूजा और दान अविच्छिन्नरूपसे करता ही रहे इसी मुख्य उद्देश्यसे समदत्ति और अन्वयदत्ति (पित्रीय सम्पत्तिका अधिकार—वारसा हक) आगममें बतलाई है। इस सबका सार एक-मात्र आत्मोन्नति है। पूजा और दानके द्वारा प्रभावना और वात्सल्य अंगको दिन दूना बढ़ाते हुए अपनी आत्माकी समुन्नति करनी चाहिये।

जो लोग संसारकी उन्नतिमें ही अपना धर्म और आत्मकल्याण समझते हैं वे बड़े भूले हुए हैं। संसार दुःखका कारण है अवनतिका बीज है, पापोंकी प्रवृत्तिका स्थान है और व्यामोह (अज्ञानभाव) को बढ़ानेवाला है।

संसारकी उन्नतिसे आत्मा विषयकषायोंमें पड़कर निरन्तर पतित होता है। दुर्गतिका पात्र होता है।

आत्माकी समुन्नति आत्माके गुणोंके विकाश करनेसे होती है, परिणामोंको समुज्वल और विशुद्ध बनानेसे होती है, समस्त पाप-कर्मोंके परित्यागसे होती है और रागद्वेष काम क्रोध मान माया लोभ ईर्षा द्वेष प्रपंच आदि विकारोंके परित्याग करनेसे आत्मोन्नति होती है।

आत्मोन्नतिका मुख्य कारण एक चारित्र है और वह चारित्र निवृत्तिसे होता है। पापोंका छोड़ना अथवा परवस्तुसे मोहका परित्याग करना ही चारित्र है। जबतक पापोंका परित्याग नहीं है तबतक आत्मोन्नति-की आशा करना व्यर्थ है।

हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और पापाचरणका परित्याग करनेसे आत्मोन्नति होगी। **आत्मोन्नतिकेलिये सबसे प्रथम अपनी आत्माकी हिंसा मत करो, उसकेलिये किसी भी जीवका मन मत दुखाओ। किसीकेलिये बुरा मत विचारो, किसी-का धन नहीं हरण करो, परस्त्रीकी तरफ बुरी दृष्टि मत करो, मनसे भी कभी भी किसीके लिये बुरा इरादा मत विचारो।**

चारित्रके पालन करनेकेलिये या आत्मोन्नतिकेलिये सबसे प्रधान कारण एक गुरुकी संगति है।

सत्संगतिके विना आत्माकी समुन्नति या चारित्रकी प्राप्ति कदापि नहीं होती है। प्राचीन (चतुर्थ कालमें) जिन जीवोंने अपनी आत्मा-की उन्नति की है वह सत्संगतिसे ही की है। अंजनसरीखे पापी जीवोंनें सत्संगतिसे ही अपनी आत्माकी उन्नति की है। पशु, पक्षी और अधममनुष्योंने भी सत्संगतिसे लाभ प्राप्त कर आत्मोन्नति की है।

सत्संगति विना आत्माकी समुन्नति किसी कालमें न हुई, न होती है और न होगी। उन्नतिका मार्ग है तो एक सत्संगति है।

गत पांच सौ वर्षमें सत्संगतिका लाभ नहीं था किंतु इस समय महान पुण्यशाली, परम वीतराग, परम शांतिके स्थान

श्री १०८ श्री पूज्यपाद श्रीआचार्य शांतिसागर महाराजकी शरण ग्रहण कर पापको छोडो तो ही आत्माकी उन्नति होगी।

समस्त जीव सुखी हो, समस्त जीवमात्र दुःखोंसे वचे, समस्त जीव पापकर्मोंको छोड़े, समस्त जीव परस्पर बंधुभावसे हितका साधन करें, सब जीव एक दूसरे जीवोंको सहायता कर सबको सुखी बनानेका प्रयत्न करे।

कुमार्ग और मिथ्या-मतका नाश हो, सन्मार्ग और जैन-शासनकी वृद्धि हो, कुशास्त्र और कुशिक्षासे जीवमात्र अपना मुंह मोड़े-अनीति, अन्याय, अत्याचार और दुर्भावना नष्ट हो।

जैनागम और जैनगुरुकी मान्यता सर्वत्र अबाधितरूपसे हो और जैनशासनकी वृद्धि हो जिससे समस्त जीव अपनी आत्माकी उन्नति कर कर्मोंसे रहित स्वतन्त्र हो जावें और अविचल सुखको प्राप्त कर जन्म मरणके दुःखोंसे छूट जावें।

हे शांति और सुखके इच्छुक भव्य जन! परमपूज्य त्रिलोकगुरु, मंगललोकोत्तम शरणभूत श्री १०८ श्रीं आचार्य शांतिसागर महाराजकी शरणको प्राप्त कर अपनी आत्माको शांतिमय और परम सुखी बनाओ यही भावना है।

शिवमस्तु कल्याणमस्तु श्रीरस्तु

जय वोलो श्रीशांतिसागर महाराजकी जय।

समाप्त